

नानेश वाणी क्रमांक – 7

समीक्षण धारा

आचार्य श्री नानेश

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

- नानेश वाणी – 7
समीक्षण धारा
- आचार्य श्री नानेश
- संस्करण : अगस्त 2002 1100 प्रतियाँ
- मूल्य : 30/–
- अर्थ सहयोगी : श्री धूड़मल, मानकचन्द, जीतमल डागा, गंगाशहर
- प्रकाशक :
श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर
- मुद्रक :
कल्याणी प्रिण्टर्स
अलख सागर रोड, बीकानेर
दूरभाष : 0151–526890

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में हैं, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की राह दिखायी, जिस पर चल कर भव्य आत्माएँ अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती हैं। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है, तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है, जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है, जो सांसारिक प्राणियों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तंभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियाँ युगों-युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये, न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये, वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व-जनों के हितार्थ उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को "ukusok.ki" पुस्तक शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया।

इस संदर्भ में बैंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी ने अर्थ संबंधी व्यवस्था में जो सद्प्रयत्न किया, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत कृति पूर्व में "I ehk.k.&Mjk" नाम से प्रकाशित पुस्तक की नयी आवृत्ति है। इसमें कुछ संशोधन परिष्करण भी हुआ है। इस कृति के प्रथम संस्करण के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले उदारमना सुश्रावक श्री फतेहचन्दजी कोठारी व द्वितीय संस्करण हेतु धूड़मलजी डागा, गंगाशहर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूँ।

यद्यपि सम्पादन-प्रकाशन में पूरी सावधानी रखी गयी है, तथापि कोई भूल रह गयी हो, तो सुधी-पाठकों से निवेदन है कि वे हमें अवगत करायें, ताकि आगामी संस्करणों में भूल का परिमार्जन किया जा सके।

निवेदक

शांतिलाल सांड

संयोजक साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा. सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर।

1. समीक्षण-समीक्षा

1-11

बुद्धि की निर्मलता, अहमत्व-ममत्व का विनाश हो, एसो पंच णमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो, तर्क से अगम्य व मति से अग्राह्य : आत्म-स्वरूप, नमन की विधि, संधियों का झुकाव, संधियाँ क्या हैं ? समीक्षण से अवलोकन प्रभु का, राधावेध और समीक्षण ध्यान, एक नमन से सभी पापों का विनाश, बाहुबलीजी की अन्तःविचारणा, समीक्षणपूर्वक नमन हो

2. समीक्षण का प्रभाव

12-21

आदर्शमय जीवन सुबाहुकुमार का, समीक्षण का प्रभाव, समान शक्तिश्रोत : सभी का, समीक्षण साधना : साधु जीवन में, समीक्षण बिना निस्सार जीवन, समीक्षण साधना : प्रभु के जीवन में, समीक्षण दृष्टि का ज्वलंत आदर्श, आत्मीयता से प्रभावित सिंह, ध्यान समीक्षक बनो

3. करुणा-तीक्ष्णता-समीक्षण

22-29

कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध, कर्म-विदारण का रहस्य, मूल कारण की खोज, सफलता का रहस्य : संकल्पशक्ति, कर्मों का कर्जा

4. करुणा बनाम अन्नय

30-38

सर्वश्रेष्ठ दान : अभय, मृत्यु की वेदी पर, रानियों का वरदान, वरदान से जीवन दान, रानियों को ईर्ष्या छोटी रानी से, अभय दान की सर्वश्रेष्ठता, अभय प्रदाता : शीतल प्रभु, अभय दान से तीर्थकरत्व प्राप्ति

5. करुणा के तीन रूप

39-47

छद्मस्थों के लिए आदर्श : वीतरागी, सर्व-जन्तु-हितकारिणी : करुणा, पर-दुःख-छेदन-इच्छा : करुणा-अभयदान : ते मल क्षय करुणा, बाह्य मल क्या है ? आन्तरिक मल क्या है ? स्वच्छता विदेशों में, आँखों देखा हाल, स्वच्छता का परम प्रतीक : साधु जीवन, करुणा से परम लक्ष्य की प्राप्ति

6. पुद्गलानन्दी नहीं, आत्मानन्दी बनो 48-58

समीक्षण शक्ति की अभिव्यक्ति का अवरोधक : कर्म, उदासीनता बनाम समीक्षण, उत्पाद-व्यय-धौव्य-युक्तं सत्, पौद्गलिक परिवर्तन, पुद्गलानन्द शाश्वत नहीं, पुद्गलानन्द का परिणाम, आत्माभिमुख बनो, दुर्गंध भरा परिखोदक, परस्पर चर्चा-विचर्चा, सम्राट् का रोष, अमनोज्ञ का मनोज्ञ में परिवर्तन, श्रावक के सम्पर्क से परिवर्तन : सम्राट् में, त्रिविध उदासीनता

7. मानव जीवन और क्रियावती शक्ति 59-68

चकडोलर और संसार, गुणगान के साथ आचरण भी, तीर्थकर भी मानव हैं, उदासीनता निष्क्रियता नहीं है, सिद्धात्मा भी निष्क्रिय नहीं हैं, श्रावक तीर्थकर नहीं बनते, आप भी अनन्त सत्त्वसम्पन्न हैं, रत्न परीक्षक-पहला जौहरी, पहले जैसा दूसरा, दूसरे जैसा तीसरा, चौथा सबसे विलक्षण, हानि में मैं नहीं, तुम रहे, वास्तव में हानि में कौन?

8. कर्म विमुक्ति में सहायक-पुण्य 69-81

कर्मों का विविध रूप, कर्म पहले या आत्मा, कर्म-आत्मा का अनादि सम्बन्ध, अपुनर्भाव से कर्म विजेता : शीतल भगवंत, पुण्य व्याख्या : अन्नदान, जलदान, पानी के अभाव में महाप्रयाण, टंकी का पानी धोवन नहीं है, स्थान दान, शयनदान, वस्त्र दान, मनः पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य, पाप की तरह पुण्य हेय नहीं है, पुण्य के तीन रूप : हेय-ज्ञेय-उपादेय, शक्ति और व्यक्ति, त्रिभुवन प्रभुता : निर्ग्रन्थता, योगी और भोगी, वक्ता और मौनी, अनुपयोगी और उपयोगी

9. समीक्षण श्रेय और प्रेय का (1) 82-93

श्रेय मार्ग : आध्यात्मिकता, प्रेय मार्ग : भौतिकता, प्रेय मार्ग से आत्मा का भारीपन, श्रेय मार्ग से आत्मा का हल्कापन, एक ज्वलन्त प्रश्न, समाधान की ओर, कर्ता के तीन रूप, प्रेय मार्ग की प्रेरिका

10. समीक्षण श्रेय और प्रेय का (2) 94-103

राह कौन सी : श्रेय की या प्रेय की, श्रेय मार्ग की प्रेरिका, झूठा अभिमान वकील सा. का, विपरीत परिणाम पत्नी पर, पत्नी से परिवर्तन पति में, प्रेय मार्ग और दहेज, श्रेय मार्ग और धनोपार्जन, छोटी बहू का श्रेय कार्य : पाँच स्वर्ण मुद्राएँ

11. इन्द्रिय-समीक्षण 104-115

सिद्ध और संसारी, श्रोत-इन्द्रियरामी का परिणाम, रूपासक्ति का परिणाम, सुगंध-दुर्गंध में आसक्ति भाव, कटु परिणाम रसना का, दुर्गतिकारिका स्पर्शना, सुखाभास में सुख प्रतीति, सुख पुद्गलों में नहीं : स्वयं में, शक्ति को अन्तः में नियोजित करो

12. भौतिक और आध्यात्मिक समीक्षण 116-129

आध्यात्मिकता और भौतिकता के परिवेष में श्रेय और प्रेय, आध्यात्मिकता बनाम श्रेय पथ, श्रेय का प्रभाव प्रेय पर, भौतिकता बनाम प्रेय पथ, श्रेय सिद्धान्त कौन-सा ?

13. क्रिया-प्रतिक्रिया-समीक्षण 130-141

क्रिया के तीन रूप, दो प्रकार से मन की प्रवृत्ति, क्रिया की प्रवृत्ति शुभ में या अशुभ में, सामायिक क्रिया, मन की क्रिया, विचित्र रूप महायोगी का, श्रेणिक की वार्ता प्रभु से, वार्ता सुमुख-दुर्मुख की, मन की तीव्र क्रिया-प्रतिक्रिया, निज समीक्षण करें

14. निज स्वरूप क्या है? 142-151

जीव और पुद्गल, स्वभाव पर विभाव का आधिपत्य, लक्ष्य सम्यग्दृष्टि आत्मा का, चित्त संभूति अनगार, मुनि प्रवर का भव्य उपदेश, अध्यात्म और अनध्यात्म क्रिया के प्रतीक, अध्यात्म क्रिया कौनसी ? अध्यात्म क्रिया से निज रूप की अभिव्यक्ति

15. आत्मा से आत्मा का समीक्षण 152-159

विश्व के छः प्रतिनिधि, खिलौने आत्मा के, संसारी आत्मा के वैभाविक परिणाम, प्राणियों के विविध रूप, अमूल्य क्षण : मानव जीवन के, शैवालाच्छादित कछुआ : कर्माच्छादित आत्मा, सम्यक् दृष्टि का स्वरूप, "निज स्वरूप क्रिया साधे व चउगति साधे" के प्रतीक, संपेहए अप्पगमप्पएणं

1

समीक्षण-समीक्षा

- बुद्धि की निर्मलता
- अहमत्व-ममत्व का विनाश हो
- एसो पंच णमुक्कारो सब्ब पावप्पणासणो
- तर्क से अगम्य व मति से अग्राह्य : आत्म-स्वरूप
- नमन की विधि
- संधियों का झुकाव
- संधियाँ क्या हैं ?
- समीक्षण से अवलोकन प्रभु का
- राधावेध और समीक्षण ध्यान
- एक नमन से सभी पापों का विनाश
- बाहुबलीजी की अन्तःविचारणा
- समीक्षणपूर्वक नमन हो

; L; Kku&euU&oLr&fo"ki; ; % iŕ; rs nŕŕ
 fuR; a ; L; opks u nqz &Ñr% dkŕkygyŕ; rŕ
 jlx&}ŕk&eŕk&f}"ka p ifj"kr- f{krk {k.kk| ŕ I k
 I Jh ohjfohkŕoZkr&dyŕkka cŕ) a fo/kŪkka eeAA

सुज्ञ बंधुओं ! इस श्लोक के माध्यम से चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर के चरणों में दार्शनिक शैली में आत्म निवेदना प्रस्तुत की गयी है।

श्लोकगत पंक्तियों में बतलाया गया है कि भगवन्! आप अखिल वस्तु-स्तोम के विज्ञाता केवल (सम्पूर्ण) ज्ञान के धारक हैं। देवगण सदा-सर्वदा आपकी अर्चना करते हैं। दुर्नय-रूपी वचन-प्रवाह आपकी वचन-गरिमा को लुप्त नहीं कर सकता। राग-द्वेष रूपी महारिपुओं को जीतकर आपने भीतर के शत्रुव्यूह का भेदन कर डाला है।

बुद्धि की निर्मलता

हे प्रभु! "विधूत कलुषां बुद्धि विधत्तां मम" आप मुझे काषायिक वृत्तियों से रहित निर्मल समीक्षण बुद्धि प्रदान करें।

यद्यपि यह ध्रुव मान्यता है कि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सिद्ध अवस्थासम्पन्न परमात्मा हमें कुछ भी नहीं देते हैं, तथापि प्रस्तुत श्लोक में निर्मल बुद्धि की याचना की गयी है। इससे यह तात्पर्य है कि मुमुक्षु आत्मा सिद्ध प्रभु को आदर्शरूप में मानकर स्वयं के भीतर विराजमान सिद्धत्वस्वरूप को उद्भाषित करने के लिए प्रयत्नशील बने, क्योंकि शास्त्रकारों की दृष्टि में तो **vlik l ks ijelik**—आत्मा ही परमात्मा है। विश्व की समस्त आत्माओं में परमात्मा—सी शक्ति निहित है। आवश्यकता है — उसके ऊपर आगत परतों को उखाड़ फेंकने की। इसी के लिए प्रभु से प्रार्थना की जाती है, जिसके फलस्वरूप हमारी आत्मा पुरुषार्थशील बने।

अहमत्व-ममत्व का विनाश हो

जो सत् चित् आनन्दघन वाला सिद्धत्व स्वरूप कर्माच्छादित है, वह

क्यों है ? यह आवरण सहेतुक है या अहेतुक ? एतद्विषयक चर्चा का अभी अवकाश नहीं है। परन्तु यह तो निश्चित ही है कि विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं—चाहे उनका शरीर लघु हो या स्थूल, पर हैं वे आनन्दघन रूप ही। ऐसा आनन्दघन रूप संसारी प्राणियों के अन्यान्य काषायिक रंगों से विकृत हो चुका है। उन रंगों को हटाने के लिए सबसे पहले बुद्धि को निर्मल बनाये जाने की आवश्यकता है, बुद्धि की निर्मलता होने पर ही दृष्टि समीक्षक बन सकेगी।

बुद्धि की निर्मलता तथा समीक्षण अवस्था को पाने के लिए साधक को सबसे पहले अहमत्व और ममत्व को विसर्जित करना आवश्यक है। इन दोनों तत्त्वों की विद्यमानता में बुद्धि में निर्मलता, विमलता, शान्ति नहीं आ सकती।

एसी पंच णमुक्कारी, सव्व पावप्पणासणी

समता, शान्ति को पाने की यदि सच्ची जिज्ञासा, सच्ची भूख हो, तो आदर्श रूप उस सत्-चित्-आनन्द-घन को नमन करें। वह नमन किस रूप में हो, क्या विधि है उसकी ? यह जान लेना भी आवश्यक है। यद्यपि नमन करने की अनेक विधियाँ हैं, फिर भी नमस्कार महामंत्र के रूप में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। इस नमस्कार महामंत्र की फल-श्रुति के पद, रहस्यात्मक और बहुत ही महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण की ओर इंगित करते हैं।

, l k s i p . k e d k j k s l o o i k o l i . k k l . k k s

अर्थात् पंच परमेष्ठी को किया गया नमस्कार, सभी पापों का विनाश करने वाला होता है। इस नमस्कार मंत्र की फलश्रुति को सुनकर आधुनिक युग का प्राणी, जो वैज्ञानिक युग के प्रत्यक्षीकरण में जी रहा है, इस पर विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि जब नमस्कार मंत्र का जाप कर लेने मात्र से सभी पापों का विनाश हो जाता है, तो फिर अन्यान्य तप, जप व कठोर साधना करने की क्या आवश्यकता है ?

तर्क से अगम्य, मति से अग्राह्य

आत्म-स्वरूप

तर्क का युग है। हर चिन्तनशील व्यक्ति तर्क से समझना चाहता है और वह उचित भी है। किन्तु विशिष्ट आत्माओं की दृष्टि में तर्क का उतना महत्त्व नहीं है। आत्मा के परम स्वरूप की विज्ञप्ति तर्क द्वारा नहीं हो सकती।

कहा भी है—

rDdk tRFk u foTtb] eb rRFk u xkfg; kA

तर्क से वह परम स्वरूप जाना नहीं जा सकता और मति उस विषय को ग्रहण नहीं कर सकती।

तर्क से अगम्य होते हुए भी प्रारम्भिक साधना पथ पर चलने वाला साधक, साधना पथ पर गति करने के लिए सतर्क समाधान चाहता है। जब उसे हृदयग्राही सचोट समाधान मिल जाता है तो वह साधना पथ पर मनोयोगपूर्वक गति कर सकता है। हाँ, तो मैं कह रहा था कि नमस्कार मन्त्र के उच्चारण से सभी पापों का विनाश कैसे हो सकता है ?

प्रश्न किया जिज्ञासुओं ने और साथ ही प्रतिक्रिया भी, कि हम इस नमस्कार मंत्र का एक बार, दो बार नहीं, लाखों बार जप कर चुके हैं। हमारे तो सभी पापों का नाश हो ही गया होगा। हम तो अब निष्पाप बन गये, अब कोई साधना हमारे लिए अवशेष नहीं रहनी चाहिए।

अन्य स्थान पर भी ऐसी ही बात कही है :—

, Ddks fo .kekDdkj k ft .koj l g l I o) ek.k l I A

l d k j & l k x j k v k s r k j b d u j a o k u k j h a o k A

प्रभु ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान पर्यन्त जिनेश्वरों को किया गया एक नमस्कार भी संसार-सागर से पार उतारने वाला होता है, चाहे नमस्कार करने वाला नर हो या नारी हो!

एक नमस्कार से ही सभी पापों का नाश हो जाता है, लेकिन हमारे द्वारा इतना नमस्कार करने पर भी जीवन में पापों के विनाश से होने वाला कुछ भी रूपान्तरण नहीं हुआ।

नमन की विधि

प्रश्न बहुत सहज, सुबोध प्रतीत होता है, लेकिन अपने पीछे गहरा चिन्तन छोड़ जाता है। सम्यक् विधि से पाँचों पदों को नमस्कार करना तो बहुत दूर है, यदि केवल एक ही पद को सम्यक् विधि से नमस्कार कर लिया जाय, तो सत् चित् आनन्दघन का स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है।

लेकिन आज जो नमन हो रहा है, वह विधि से कहाँ हो रहा है ?

कोई किसी विधि से कर रहा है, तो कोई किसी अन्य विधि से कर रहा है। आप गुरु वन्दन भी करते हैं, तो किसी तरीके से थोड़ा सिर झुका लिया, थोड़े-से हाथ जोड़ लिये, अधिक हुआ, तो दोनों घुटने जमीन पर टिका दिये और इससे भी ज्यादा हुआ, तो दोनों हाथ भी जमीन पर टिका दिये और तिकखुत्तो के पाठ का उच्चारण कर लिया। मन में सोच लिया कि हमने वन्दन कर लिया। परन्तु यह चिन्तन कम किया जाता है कि हमारी वन्दन विधि कहाँ तक उचित है? कहीं यह उच्चारण तोता रटन्त तो नहीं हो रहा है? जीवन में विषयासक्ति कितनी-क्या अटखेलियाँ खेल रही है? भौतिक लालसाओं का प्रवाह कितना काम कर रहा है? जब तक अन्तरंग जीवन का संशोधन सही रूप से नहीं होगा, तब तक नमस्कार-मंत्र के पदों को किया गया एक नहीं अनेकों बार का नमन भी सार्थक नहीं हो सकता।

संधियाँ का झुकाव

भगवान महावीर की प्रथम देशना, जो आचारांग सूत्र के माध्यम से आई है, उसमें कहा है कि :—

vk; r&pD[kw ykx&foi LI h] ykxLI vgg&Hkxa
tk.kb] mM<&Hkxa tk.kb] frfj; a Hkxa tk.kbAA

आचा 2/5/91

दीर्घदर्शी पुरुष लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्व भाग को जानता है, तिरछे भाग को जानता है।

सूत्र का अर्थ बहुत गम्भीर है। प्रभु ने लोक को देखने का संकेत किया है। अनेक आचार्यों ने सूत्र की व्याख्या करते हुए, लोक से चउदह रज्ज्वात्मक लोक अर्थ लिया है। पर इस व्याख्या तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, क्योंकि इस शरीर पिण्ड को भी लोक कहा गया है। इसके अन्दर भी तिर्यक् लोक, ऊर्ध्व लोक और अधःलोक विद्यमान हैं। हमारे शरीर का अधःभाग अधो लोक, मध्य भाग तिर्यक् लोक और ऊर्ध्व भाग ऊर्ध्व लोक है।

उस लोक को देखना है। प्रश्न होगा कि क्या देखें? और कैसे देखें? समाधान का अगला वाक्य आया & I f/kafobUkk bgePph, fga तुम अपनी संधियों को जानकर, उन्हें झुकाओ और द्रव्य भाव से मुक्त बनो।

संधियाँ क्या हैं?

संधियाँ क्या हैं? यह भी समझना आवश्यक होगा। ऊपरी तौर पर शरीर की तीन संधियाँ ली जाती हैं। कुछ विस्तार से 14 संधियाँ भी ली जाती हैं, जो झुक जाती हैं। परन्तु नमन की प्रक्रिया इन संधियों तक ही सीमित नहीं है। शरीर के अन्दर तैंतीस सौ संधियाँ हैं। उन सभी को सम्यक् विधि से झुकाना होगा।

शरीर पाँच होते हैं— औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस और कार्मण। इन पाँच शरीरों में से औदारिक शरीर से सम्बन्धित ही उपर्युक्त संधियाँ हैं। इस देह-पिण्ड में स्थूलावस्थान, सूक्ष्मावस्थान, सूक्ष्मतमावस्थान, मूर्छावस्थान, विवेक-विकलावस्थान, अज्ञानावस्थान और अनभिव्यक्त आनन्दावस्थान आदि अनेक अवस्थान हैं। इन सबकी व्याख्या समय-साध्य है। अभी तो मैं संक्षिप्त रूप से इतना ही कहता हूँ कि नमन करने के लिए पहले स्थूलावस्थान से सम्बन्धित संधियों को समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करना होगा। राग-द्वेष की परिणितियाँ जब तक मन में रहेंगी, विकृत विचारों का अवस्थान रहेगा। जब तक भौतिकता का रंग जमा हुआ रहेगा, तब तक बुद्धि निर्मल नहीं बन सकती और जब तक बुद्धि निर्मल नहीं बनेगी, तब तक दृष्टि में भी समीक्षण अवस्था नहीं आ सकती और समीक्षण दृष्टि के अभाव में किया गया अवलोकन कभी भी सार्थक नहीं हो सकता।

समीक्षण में अवलोकन प्रभु का

स्वयं प्रभु महावीर ने लोक का अवलोकन समीक्षण दृष्टि से किया था। सूत्रकृतांग सूत्र के वीरस्तुति अध्ययन की गाथा में बतलाया है :—

mM<a vgs afrfj; afnl kl i r l k ; tsFkkoj ts; ik.kkA
I sf.kPp f.kPpfgal feD[k i .k] nhoso /Eeal fe; amnkgAA

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रज्ञापुरुष प्रभु महावीर ने ऊर्ध्व लोक, अधः लोक, तिर्यक् लोक में स्थित त्रस एवं स्थावर जीवों की अनित्यता का समीक्षण कर, दीपक के समान धर्म को व्याख्यायित किया।

बन्धुओं! प्रभु के द्वारा सही धर्म की प्ररूपणा भी समीक्षण दृष्टि के आधार पर ही हुई है। जब तक अन्तरंग से राग-द्वेष का मनोमालिन्य नहीं हटता, विचारों में समता भाव नहीं आता, तब तक धर्म की यथार्थ विवेचना नहीं हो सकती। प्रभु ने स्पष्ट कहा है :—

“i . k | feD[k, /kæa* हे पुरुष! प्रज्ञा से धर्म का समीक्षण कर। समता के धरातल पर ही बाह्य एवं अन्तरंग का अवलोकन करना है। यह स्थिति ही समीक्षण ध्यान की कोटि में आती है। इस सम्यक् अवलोकन के लिए शरीर की बाह्य और भीतरी— दोनों ही प्रकार की जितनी भी संधियाँ हैं, उनको झुकाना होगा। बाह्य और अन्तरंग दोनों ही संधियों से जब समीक्षणपूर्वक नमन होगा, तो निश्चित रूप से सभी पापों का नाश हो जायेगा।

राधावेध और समीक्षण ध्यान

कौरवों और पाण्डवों के जीवन का एक प्रसंग है। जब द्रोणाचार्य के पास में वे धनुर्विद्या का अध्ययन कर रहे थे, उस समय भीष्म पितामह आदि संरक्षकों की इच्छा हुई थी कि इनकी परीक्षा आम जनता के बीच में हो। द्रोणाचार्य ने मंजूरी दे दी। विशाल मैदान का चयन हुआ। मैदान के मध्य में एक स्तम्भ रोपा गया। स्तम्भ के ऊपरी भाग पर एक मयूर का पंख बाँधा गया और स्तम्भ के मूल भाग में एक खड़का खोदकर तेल भर दिया गया। द्रोणाचार्यजी सभी विद्यार्थियों को लेकर परीक्षा स्थल पर पहुँचे। यथास्थान बैठने के बाद किस विद्यार्थी को पहले खड़ा करना चाहिए — इसका चिन्तन करने लगे। इधर दुर्योधन अपनी ईर्ष्यालु बुद्धि के अनुसार सोचने लगा कि द्रोणाचार्यजी कहीं अर्जुन को पहले खड़ा न कर दें। ऐसा सोचकर वह स्वयं ही सबसे पहले जहाँ मयूरपिच्छ के चाँदले को तीर से बाँधने का स्थान था, वहाँ जाकर खड़ा हो गया। धनुष को व्यवस्थित कर निशाना साधने लगा। इतने में द्रोणाचार्यजी ने पूछा— “वीर दुर्योधन! तुझे क्या दिखलायी दे रहा है?” गर्व के साथ उत्तर दिया दुर्योधन ने— “मुझे आप दिखलायी दे रहे हैं, साथ ही सभी दर्शक एवं स्तम्भ, मयूरपिच्छी तथा बाण की नोक भी दिखलायी दे रही है।”

द्रोणाचार्य चिन्तन करने लगे कि यह कितना कठिन विषय है और इस वक्त इसको सब—कुछ दिखलायी दे रहा है, यह क्या सफल हो पायेगा? इसका मन बिखरा हुआ है। फिर भी द्रोणाचार्य उसकी भावना को देखकर बोले — “अच्छा!”

इतना सुनते ही दुर्योधन ने तीर चला दिया। फलस्वरूप निशाने पर तीर नहीं लगा। मयूरपिच्छ किधर ही रहा और बाण किधर ही चला गया। लोगों में खूब हँसी हुई। तालियों की गड़गड़ाहट हुई। इतना होने पर भी ईर्ष्यालु दुर्योधन ने अपने बाद अपने भ्राताओं को एक के बाद एक करके भेजा,

लेकिन उसके सारे ही भाई असफल रहे।

तब द्रोणाचार्य ने अर्जुन को संकेत किया। अर्जुन खड़ा होकर हाथ जोड़कर सिर झुकाता हुआ बोला— “क्या आज्ञा है आपकी ?”

द्रोणाचार्य बोले— “एक ही निशाने में मयूरपिच्छी का चाँदला उड़ाना है।”

तथास्तु कह कर अर्जुन ने द्रोणाचार्य एवं तत्रस्थ सभी महानुभावों को नमन करके उपस्थित जन—समूह को नमस्कार किया। तदनन्तर नियत स्थान पर पहुँचा। उसका मस्तिष्क ईर्ष्या के दुर्गुणों से दग्ध न था। अतएव वह सही सोचने में भी सक्षम था। चिन्तन करने लगा कि स्तम्भ के नीचे ही तेल क्यों भरा गया है? स्वयं की प्रतिभा से उसे बोध हुआ कि चाँदला ऊँचा है। ऊपर दृष्टि करने से निशाना चूकने का अंदेशा है। तेल के अन्दर चाँदले का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। इस प्रतिबिम्ब को देखकर निशाना जमाना चाहिए। उसने एकाग्रता के साथ वैसा ही किया।

तीर चलाने से पूर्व द्रोणाचार्य ने पूछा— “अर्जुन, तुझे क्या दिखता है?”

अर्जुन बोला— “गुरुदेव! चाँदला एवं बाण की नोक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता है।”

द्रोणाचार्य बोले — “बस, तुम्हारा कार्य सफल है।”

बाण छूटा और सीधा निशाने पर लगा। जयनाद से गगन मण्डल गूँज उठा।

द्रोणाचार्य ने कहा — “एक ही बाण में चाँदला उड़ाने की एकाग्रता अर्जुन को प्राप्त हो गयी है। अब यह राधावेध नाम की विद्या सीखने के योग्य है। उस राधावेध नाम की विद्या में अत्यधिक एकाग्रता की आवश्यकता रहती है, क्योंकि अनेक पंखुड़ियों वाले दो चक्र एक—दूसरे के विपरीत दिशा में शीघ्रता से घूमते हैं। उन चक्रों के ऊपरी भाग पर निशाना रहता है। उन विपरीत दिशा में घूमते हुए चक्रों के बीच में से निशाना साधना होता है।”

बन्धुओं ! यह तो एक रूपक है। मन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विचार रूप चक्र परस्पर विपरीत दिशा में घूमते रहते हैं। उन शुभाशुभ विचार—चक्रों के बीच में समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करने के साथ परमात्मा

के तुल्य आत्मा का साक्षात्कार करना, लक्ष्यानुरूप निशाना साधना होता है। इस निशाने को साधने में वही साधक सफल हो सकता है, जिसकी दृष्टि बाहर की ओर प्रसृत न होकर लक्ष्य पर केन्द्रित हो, मन में स्वच्छता हो, स्निग्धता हो एवं गम्भीरता भी रही हुई है। जिस प्रकार तेल स्वच्छ, स्निग्ध एवं भारी होता है, उसी प्रकार जिस साधक का मन जगत के प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीय स्निग्धता से युक्त हो अर्थात् सभी को अपनी आत्मा के तुल्य देखने की क्षमता हो, जो विषमता की गन्दगी से रहित हो और समता की स्वच्छता से युक्त हो एवं अनेक विकट परिस्थितियों के बावजूद भी धैर्य रूप गम्भीरता से वजनी हो, वही व्यक्ति स्थूलावस्था आदि की सभी सन्धियों को समीक्षण दृष्टि से देखता हुआ अरिहंत पद के अर्थ के प्रति झुका सकता है और वही एक पद के नमस्कार से सभी पापों का नाश करने में समर्थ हो जाता है अर्थात् आत्मा एवं परमात्मा के निशाने को साध लेता है।

एक नमन से सभी पापों का विनाश

जब द्रव्य व भाव – उभय प्रकार की संधियों का झुकाव होता है, समीक्षण दृष्टि बनती है, तो साध्यता प्राप्त हो ही जाती है अर्थात् इस प्रकार का नमन सभी पापों का विनाश करने वाला होता है। बाहुबलीजी का रूपक आपने सुना ही होगा। जिनकी शक्ति के सामने षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती भरत को भी झुकना पड़ा। जिनका भुजबल बड़े-बड़े योद्धाओं को धराशायी करने में समर्थ था। लेकिन जब उनके अन्तर्जीवन में विरक्ति का बीज प्रस्फुटित हुआ, उन्हें सारा संसार निस्सार लगने लगा। भौतिकता में उन्हें सुख नहीं सुखाभास प्रतीत होने लगा। जलती हुए दुनिया में आत्मा का त्राण-रक्षण करने के लिए युद्ध क्षेत्र में ही पंच-मुष्टि-लुंचन कर लिया।

[karksnarksfujkj Mkks i 0ob; av. lxfj; A

शान्त, दान्त, निरारंभी अनगार के रूप में प्रव्रजित हो गये। चल पड़े आत्म-साधना के विशाल पथ पर। सब-कुछ छोड़ दिया, किन्तु अन्तरंग संधियाँ नहीं झुक पायीं। अभिमान का विषधर फूटकार उठा। “अहो! मेरे दीक्षित होने से पहले मेरे ही सहोदर 98 लघु भ्राता दीक्षित हो चुके हैं। मैं उनको कैसे नमन करूँ? मैं बड़ा हूँ, वे छोटे हैं। लेकिन प्रभु चरणों में जाऊँगा, तो अवश्य ही उन्हें नमस्कार करना होगा। इसी विचारधारा ने उनको उद्विग्न बना दिया। अन्त में उन्होंने यह निर्णय लिया कि मैं अभी प्रभु चरण में नहीं

जाऊँगा। जब तक मैं केवलज्ञान प्राप्त न कर लूँ, तब तक नहीं जाऊँगा। पापों का विनाश और दिव्य ज्ञान उत्पन्न होने के बाद मुझे उन लघु भ्राताओं के चरणों में नहीं झुकना पड़ेगा।”

साधना की चरम स्थिति पाने के लिए बाहुबलि अणगार गहन कान्तार में चले जाते हैं – दृढ़ निश्चय के साथ अर्थात् “देहं वा पातयामि, कार्यं वा साधयामि” या तो शरीर को छोड़ दूँगा या कार्य की सिद्धि कर लूँगा। मुझे या तो केवलज्ञान पा लेना है या शरीर छोड़ देना है। इस दृढ़ निश्चय के साथ ध्यान-साधना में तल्लीन हो जाते हैं।

एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, तीन दिन नहीं, एक मास, दो मास नहीं अपितु एक वर्ष बीत गया। बाहुबली अणगार अपनी साधना में मेरु-पर्वत की भाँति अडोल, अप्रकम्प खड़े रहे।

कहा जाता है कि उनके शरीर पर पक्षियों ने अपने घोंसले बना लिये, चारों तरफ झाड़ियाँ बन गईं। इतना सब कुछ होते हुये भी उन्हें कहां ज्ञान था? शरीर का ममत्व उन्होंने छोड़ दिया था।

एक वर्ष बीत गया, उष्ण ऋतु से शीत ऋतु और शीत ऋतु से वर्षा ऋतु परिवर्तित हो गई लेकिन बाहुबली के अन्तरंग में केवलज्ञान का लोकोत्तर आलोक आलोकित नहीं हो सका। होता भी कैसे? क्योंकि अभी तक आन्तरिक संधियाँ परिपूर्ण रूप से झुक नहीं पाई थीं। मन के एक कोने में अभिमान जो स्थान जमाये बैठा था। छोटे भाइयों को नमन कैसे करूँ? इतना-सा अभिमान, इतनी सी विषम दृष्टि उनके केवलज्ञान में बाधक बन रही थी।

जब सती शिरोमणि ब्राह्मी सुन्दरी के शब्द बाहुबली के कानों में पड़े-

वीरां म्हारा गज थकी नीचे उतरो,

गज चढ़िया केवल नहीं पासी रे। वीरा।।

हे भ्रात! बाहुबली अणगार! गज-हाथी से नीचे उतरो। हाथी पर चढ़े-चढ़े केवलज्ञान प्राप्त नहीं होने वाला है।

बाहुबलीजी की अन्तःविचारणा

अरे! मैं कहां हाथी पर खड़ा हूँ, मैं तो भूतल पर खड़ा ध्यान-साधना

कर रहा हूँ। फिर यह ब्राह्मी सुन्दरी मुझे गज पर चढ़ा कैसे कह रही है? शब्दों की गहराई में उतरे बाहुबलीजी और रहस्य को पा गये। अहो! मैं इस बाहरी हाथी पर नहीं, किन्तु अभिमान रूपी हाथी पर चढ़ा हुआ हूँ।

अहो! यही बाधक है अखिल वस्तु विज्ञान में। जब तक अभिमान का स्तम्भ नहीं टूटेगा, आन्तरिक संधियां नहीं झुकेंगी तब तक आत्मशुद्धि की परम प्रकर्षता प्राप्त हो कैसे सकती है? जब मैंने संसार त्याग दिया, राज्य—पाट, वैभव, परिवार आदि सभी संबंधों का परित्याग कर दिया, अब क्या उच्चता और निम्नता छोटे और बड़े का प्रश्न रह गया है? जीवन का ही रूपान्तरण हो गया, अब तो वे सभी भ्राता मेरे से ज्येष्ठ हैं, दीक्षा पर्याय एवं आध्यात्मिक साधना में। मुझे मन में ऐसी उच्चता, निम्नता की कल्पना ही नहीं करनी चाहिये। जाऊँ मैं और नमन करूँ। इस विनम्र भावना के साथ ज्यों ही बाहुबलीजी ने अपना कदम बढ़ाया, सभी संधियों को झुकाया, त्यों ही उन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हो गया। एक दृष्टि से सभी पापों का विनाश हो गया।

बन्धुओ! देखिये, जैसे ही बाहरी और भीतरी संधियां झुकीं। आत्मा की काषायिक परिणतियां हटीं, समीक्षक दृष्टि की परिपूर्णता आई, तत्क्षण अनन्त शान्ति का स्रोत फूट पड़ा। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति में लवलीन हो गई। यह है समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता, जो कि आत्मा से परमात्मा भाव को उजागर करती है, शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेती है।

समीक्षण पूर्वक नमन ही

भव्य आत्मा को भव्यता का परम आदर्श रूप प्राप्त करने के लिये विचारों का शुद्धिकरण करना होगा। विचारों की शुद्धि पर ही आत्मशुद्धि सम्भव है, वैचारिक शुद्धि के लिए आत्म—संशोधन और समीक्षण ध्यान की गहराइयों में उतरना होगा। जहां बल्ब का घेरा है, वहां प्रकाश आ ही जाएगा, लेकिन घेराव स्वच्छ होना चाहिये, इसी प्रकार आत्म प्रकाश के लिये विचारों का घेराव निर्मल, स्वच्छ होना चाहिये।

अन्त में मैं पुनः यही कहूंगा कि आप सभी समीक्षण ध्यान साधना की उत्कर्षता के साथ एक णमो अरिहंताणं को ही नमस्कार करेंगे, तो सभी पापों का नाश हो जायेगा।



2

समीक्षण का प्रभाव

- आदर्शमय जीवन सुबाहुकुमार का
- समीक्षण का प्रभाव
- समान शक्तिस्त्रोत सभी का
- समीक्षण साधना साधु जीवन में
- समीक्षण बिना निस्सार जीवन
- समीक्षण साधना प्रभु के जीवन में
- समीक्षण दृष्टि का ज्वलंत आदर्श
- आत्मीयता से प्रभावित सिंह
- ध्यान समीक्षक बनो

rEgk m egkoh I feD[k /kEea

—सूत्र कृतांग सूत्र 1/7/6

gs eʃkkoh /keʃ dk I eh{k.k djka

धर्म की परिभाषा “वत्थु सहावो धम्मो” के रूप में की जाती है। अर्थात् वस्तु का निजी स्वभाव ही धर्म है। चाहे वस्तु जीव रूप में हो या अजीव रूप में। उनके मौलिक स्वरूप को यथातथ्य रूप में सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करना है। इस समीक्षण की वृत्ति को विकसित करने के लिए सबसे पहले अपने-आपका संशोधन एवं समीक्षण करना होगा। कषायों को हटाना होगा, वैभाविक वृत्तियों को विलय करना होगा, विश्व की समस्त आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव रखना होगा।

इस प्रकार की समीक्षण साधना से जीवन में आश्चर्यजनक शक्तियों का प्रकटीकरण होने लगता है।

महान् क्रांतिकारी, क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुकमीचन्दजी म.सा. की समीक्षण ध्यान साधना के फलस्वरूप लोह शृंखलाएं कच्चे सूत की भांति टूट कर गिर गईं।



श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पत्तिनो हेतु ललना।

शान्त सुधारस जल निधि, भव सागरमां सेतु ललना।।

श्री सुपार्श्व.....

सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव ललना।

सावधान मनसा करी, धारो जिन पद सेव ललना।।

श्री सुपार्श्व.....

सप्तम तीर्थकर प्रभु सुपार्श्वनाथ की स्तुति का प्रसंग चल रहा है। सभी तीर्थकरों का भावात्मक जीवन एक समान होता है।

उनके अनन्त चतुष्टय में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आती। जितने ज्ञानादि गुण प्रभु ऋषभदेव में थे, उतने ही ज्ञानादि गुण भगवान महावीर में थे। और ये गुण प्रभु पार्श्वनाथ में भी थे।

जो कुछ विशेष अन्तर था तो जीवन से सम्बन्धित घटनाओं से तथा द्वादशांगी के विवेचना करने के प्रकारों में रहा, मूल तत्त्वों में नहीं।

सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति के प्रसंग से कवि ने बतलाया है कि हे अन्तरात्मा रूपी ललना तुझे आध्यात्मिक सुख-सम्पत्ति को प्राप्त करना है। वास्तव में आध्यात्मिक सम्पत्ति ही शाश्वत सुख प्राप्त करवाने वाली होती है। आध्यात्मिक सुख के रस को, आध्यात्मिक आनन्द को जिसने भी प्राप्त किया है, उनका चित्रण भी शास्त्रकारों ने कर दिया है।

आपके समक्ष सुख-विपाक सूत्र के माध्यम से सुबाहुकुमार के जीवन का वर्णन आ रहा है, जो कि जीवन के लिए महान् प्रेरणास्पद है।

आदर्शमय जीवन सुबाहुकुमार का

सुबाहुकुमार सभी गुणों से सम्पन्न था। इसीलिए तो गौतम स्वामी ने प्रभु से पूछा- भगवन्! इस सुबाहुकुमार ने गत जन्म में “किंवा दच्चा, किंवा भोच्चा, किंवा किच्चा, किंवा समायरियत्ता”, क्या दिया था? क्या खाया था? क्या किया था? और क्या आचरण किया था? जिसके फलस्वरूप इस जीवन में उसने महान् ऋद्धि, समृद्धि प्राप्त की है।

ऐसे प्रेरणा-प्रद जीवन को अवधानता के साथ श्रवण करके, उसके अनुरूप अपने जीवन को भी बनाया जा सकता है। सुबाहुकुमार की तरह ही

अपने—आपको विश्व के लिए एक आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बनाया जा सकता है।

संसार की दृष्टि से आध्यात्मिक जीवन सम्यक्तया अवलोकन नहीं किया जा सकता है।

चर्म—चक्षु अरूपी तत्त्व को देखने में समर्थ नहीं हैं। जब तक मानव जीवन अन्तर्मुखी नहीं बनता, तब तक उसकी दृष्टि बाह्य तत्त्वों में ही घूमती रहती है। बाह्य तत्त्वों के पीछे ही वह अपनी बहुमूल्य ऊर्जा को खर्च कर देता है। ऐसा मानव पुनः जन्म—जन्मान्तर की दीर्घ कान्ता में भटकने चला जाता है या यों कहा जाय कि अथक परिश्रम से समुद्र के किनारे आने वाला तैराक थोड़ी—सी कमजोरी के कारण समुद्र में डूब जाता है।

समीक्षण का प्रभाव

साहस और धैर्य के साथ की जाने वाली प्रगति एक दिन परिपूर्णता को प्राप्त करने वाली होती है।

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने घातिक कर्म की क्षपणा के लिए, ज्ञान शक्ति की परिपूर्णता के लिए वर्षों तक साधना की थी। समीक्षण दृष्टि से अन्तरंग और बहिरंग को निहारा।

जीवन के कण—कण से कषायों का विलगीकरण कर डाला।

आत्मा का परिपूर्ण शोधन किया। ज्ञान का अभिनव आलोक जगमगा उठा। शांति और समता का स्रोत प्रवाहित हुआ। जिस योग का अनूठा प्रभाव जनमानस पर ही नहीं, पशु—पक्षियों पर पड़े बिना नहीं रहा, प्रभु के अहिंसामय सान्निध्य में जन्मजात शत्रु सर्प और नेवला, शेर और बकरी भी प्रेम से निर्वैर भाव से बैठते।

I eku 'kfDrI kr I Hkh dk

ऐसी साधना, प्रत्येक साधनशील साधक कर सकता है। लेकिन जो साधु साहस और धैर्य का अवलम्बन न लेकर चापल्य वृत्ति वाला बन जाता है, वह साधक कभी भी उन्नत दशा को प्राप्त नहीं कर सकता।

उदाहरण के रूप में एक स्थल पर एक मनुष्य पहुंचा, जहां पर हीरे और कंकर का ढेर लगा हुआ था, उसमें से कुछ भी ग्रहण करने की उसको छूट थी। इतना होने पर भी वह व्यक्ति उनमें से रत्न न लेकर कंकर उठाते

लगता है, तो ऐसे व्यक्ति को आप क्या समझेंगे? मूर्ख ही तो समझेंगे ना? सज्जनों! यह तो पौद्गलिक तत्त्व से सम्बन्धित बात हुई। किन्तु जो आत्मा साधु जीवन स्वीकार कर लेती है। उस आत्मा को आध्यात्मिक जीवन का अद्भुत खजाना हस्तगत हो जाता है। वह इससे इच्छानुसार बहुमूल्य रत्नों के तुल्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि विविध प्रकार के, अनेक प्रकार के रत्नों को प्राप्त कर सकता है। जो रत्न क्षणिक नहीं, शाश्वत शांति प्रदान कराने वाले होते हैं।

समीक्षण साधना साधु जीवन में

ऐसे आध्यात्मिक रत्नों का संग्रहण गृहस्थ जीवन में उतना नहीं हो पाता। क्योंकि गृहस्थ जीवन में मनुष्य के सामने कई प्रकार की झंझटें और समस्याएं रहती हैं। उनमें भी मूलभूत आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए ही उसका मस्तिष्क दिन—रात तना रहता है। लेकिन साधु जीवन में ऐसी कोई स्थिति नहीं रहती। उसके समक्ष मात्र आध्यात्मिक साधना का ही उद्देश्य रहता है। वह सभी प्रकार के चिन्तन से विप्रमुक्त रहता है। एक समय का भोजन भी मिलेगा या नहीं, यह चिन्ता भी उसे नहीं रहती है।

आत्मा को मलिन बनाने वाले पांचों आश्रव का निरोध होता जाता है। बद्ध कर्मों का क्षय करना एवं अध्यात्म का जागरण ही चलता रहता है। आत्मा के भीतर में विद्यमान अमूल्य रत्न परमात्मा स्वरूप को प्रकट करना है।

I eh{k.k fcuk fuI kj thou

इतना सब—कुछ होते हुए भी जो साधक साधनाशील जीवन में अमूल्य रत्नों का चयन नहीं करता है, समीक्षण पद्धति से जीवन का संशोधन नहीं करता है, किन्तु अपने जीवन में कषायों के पत्थरों को एकत्रित करता रहता है, मंत्र—तंत्र, जादू—टोना आदि सांसारिक कार्यों में रच—पच जाता है, सत्कार, सम्मान का कामी बन जाता है— ऐसा साधक कंकरों से युक्त रत्नों के ढेर में से पत्थरों को ही एकत्रित करता रहता है।

अविनाशी लक्ष्य से हटकर विनाशी तत्त्व की ओर मुड़ जाता है, उसकी वृत्ति मोक्षप्राप्ति से हटकर संसार की ओर गति करने लगती है, उसकी साधना संसार को घटाने वाली न बनकर उसे बढ़ाने वाली होती है— ऐसा साधु, साधु—जीवन की भूमिका पर नहीं रहता है। ऐसे साधकों के जीवन में कभी भी विलक्षण प्रभाव नहीं पड़ता है। जो साधु अभी तक आत्म समीक्षण

में न लगकर मंत्र-तंत्र में पड़ा है, उसके जीवन में अमूल्य रत्नों का विलक्षण प्रकाश नहीं आता। उसके स्वयं के जीवन में ही विलक्षण प्रकाश नहीं होने से वह दूसरों को प्रकाश कैसे दे सकता है?

समीक्षण साधना प्रभु के जीवन में

प्रभु महावीर का जीवन ऐसा नहीं था। वह तो अलौकिक रत्नों के तीव्र प्रकाश से जगमगा रहा था जिसका प्रभाव एक कोस, दो कोस नहीं अपितु 100 कोस की दूरी तक निरन्तर फैल रहा था। जिनके सामने शेर के मुख के नीचे ही बकरी निर्भयता के साथ बैठती थी।

भगवान महावीर ने यह जीवन्त अलौकिक शक्ति जिस शरीर के माध्यम से पाई, वह शरीर कोई आकाश से नहीं टपका था और न ही कोई पाताल से निकला था। जिस प्रकार आज मानव का शरीर माता की कुक्षि से बाहर आता है, उसी प्रकार प्रभु महावीर का शरीर भी माता की कुक्षि से ही बाहर आया था। अर्थात् आप लोग जैसे जन्मे, वैसे ही प्रभु भी जन्मे थे।

उनकी विशिष्ट पुण्यवानी होने से शरीर की रचना में कुछ विशेषता थी, मूल अंगों में कोई परिवर्तन नहीं था। जन्म लेने के बाद उन्होंने माता का दूध पीया और आपने भी माता का दूध पीया। बाद में जैसे खाना आप खा रहे हैं, वैसे ही उन्होंने भी खाया होगा।

दीक्षा लेने के बाद तो भोजन की सरसता भी छूट गई थी। कभी-कभी तो बड़ी-बड़ी तपस्या के पारणों में तीन दिन के बासी उड़दों के बाकले थे। वे भी उन्होंने ग्रहण किये थे।

यदि आपको कदाचित् तपस्या का पारणा हो या तपस्या का पारणा न हो, वैसे ही आपके सामने उड़दों के बाकले रख दें तो क्या आप भोजन कर लेंगे? कहीं क्रोधित तो न हो जाओगे? जहाँ भगवान महावीर ने समभाव की साधना के साथ 3 दिन के बासी बाकलों से भी दीर्घ तपावधि का पारणा कर लिया था वहाँ उनका ध्यान समीक्षण था। जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थों को यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में देखा था, जिन्हें पौद्गलिक परिवर्तन का स्पष्ट विज्ञान था, जिनके अणु-अणु में आनन्द रस की झलक थी, ऐसी शक्ति को कितना ही दबाने का प्रयास किया, जाय वह प्रकट हो ही जाती है। इत्र की शीशी का मुँह बन्द हो और आप उसे जेब में दबाकर बैठ भी जायें तथापि उसकी खुशबू आए बिना नहीं रहेगी। इसी प्रकार जब काम, क्रोध, मद, मोह

की गंदगी सर्वथा हट जाती है, आन्तरिक शान्ति का समुद्र प्रवाहित होने लगता है, तो उससे सहज ही जन-मानस प्रभावित होने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रभु के जीवन में से भी काम, क्रोध, मद, मोह का विलगीकरण हो चुका था। आत्म शान्ति का निर्झर प्रवाहित होने लगा था, परिणामस्वरूप जन मानस क्षेत्र सरसब्ज होने लगा था। जन मानस ही नहीं पशु-पक्षी जगत् भी प्रभु के आदर्शमय जीवन से प्रभावित था।

यह सब, देखा जाय तो समीक्षण दृष्टि का ही मूल प्रभाव था। प्रभु ने अपनी दृष्टि इतनी समतामय बना ली थी कि वे सदा समता भाव के साथ अखिल विश्व का ईक्षण-दर्शन करते थे। अच्छी या बुरी वस्तु पर राग-द्वेष उत्पत्ति नहीं होने देते। समीक्षण पर जोर देते हुए प्रभु ने कहा है-

rEgk m egkoh | feD[k /kEa

हे मेघावी धर्म का समीक्षण करो। वस्तु स्वभाव को धर्म कहते हैं। अतः विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के प्रति, चाहे वे जीव रूप में हो या अजीव रूप में, उनका सम्यक् प्रकार से, समता के साथ ईक्षण करो। जब इस प्रकार ईक्षण की प्रवृत्ति बढ़ेगी तो अवश्य ही एक दिन सम्पूर्ण विश्व का समीक्षण कर सकोगे। और वह समीक्षण तभी संभव है जब अन्तः का निरन्तर संशोधन व समीक्षण चलता रहेगा।

समीक्षण दृष्टि का ज्वलन्त आदर्श

बन्धुओ! जब भव्य आत्मा की दृष्टि क्रमशः समीक्षण की प्रकर्षता की ओर बढ़ने लगती है, तब उसके जीवन में अनुपम प्रकाश की जगमगाहट उभरने लगती है और एक दिन वह परम प्रकर्षता को भी प्राप्त कर लेती है। ऐसे साधक के जीवन का प्रभाव अवश्य ही दूसरे पर पड़ता है। उसकी दृष्टि इतनी निर्मल एवं प्रभावशाली बन जाती है कि सशक्त से सशक्त लोहे की साँकलें भी टूट जाती हैं। क्या उदाहरण दूँ आपको मैं, दूर क्यों जायें, इसी क्रान्तिकारी परम्परा के महान् आचार्य क्रियोद्धारक श्री हुक्मीचन्द्रजी म.सा. के जीवन की घटना कुछ इसी रूप में घटित हुई थी। जब वे विचरण में रामपुरा गांव में पधारे थे, तब वहाँ पहले से ही पूरे गांव में हैजे का प्रकोप व्याप्त था कि महासाधक के पदार्पण से वह प्रकोप धीरे-धीरे शांत होता हुआ पूर्ण शांत हो गया। सभी लोग ऐसे महासाधक के सान्निध्य में आकर जीवन में धर्म का अभिनव आलोक भरने लगे। इसी शृंखला में गांव की एक बहिन, जिसका

नाम था राजाबाई, वह महासाधक के विशुद्ध संयम से अत्यधिक प्रभावित हो गई, परिणामस्वरूप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संयम पर्याय में आने के लिए तत्पर हो गई। पारिवारिक मोह कुछ इसी प्रकार का होता है कि प्रशस्त कार्य में कहीं न कहीं बाधक बन ही जाता है। यही हुआ बहिन राजीबाई के साथ। परिवार के लोगों को जब ज्ञात हुआ कि राजीबाई दीक्षा के लिए तत्पर हो रही है, तो वे अड़ गए। यहां तक अड़े कि बहिन का व्याख्यान में जाना, गुरुदेव के दर्शन करना आदि सब रोक दिया गया। यही नहीं, उनके मन में भय व्याप्त हो गया कि कहीं यह चली न जाय, उसे घर पर लोह की सांकलों में बांधा गया। देखिये! मोह का परिणाम। भोले लोग समझ नहीं पाते कि यह बहिन जिस मार्ग पर जा रही है, वह प्रशस्त है, इसकी आत्मा को शाश्वत शांति प्राप्त कराने वाला है तथा हमारे कुल को भी उज्ज्वल करने वाला है। आज के समाज की भी कुछ ऐसी ही स्थिति बनी हुई है। कोई दीक्षा लेने के लिए तैयार होगा तो उसको अन्तराय देने वाले बहुत मिल जायेंगे, सहायक बहुत कम मिलेंगे।

बहिन राजीबाई की भी स्थिति कुछ ऐसी बन गई थी, लेकिन एक रोज ऐसा प्रसंग बना कि महासाधक हुक्मीचन्दजी म.सा. उसी के घर बेले के पारणे के रोज भिक्षाचर्या के लिए पधारे। यथाविधि भिक्षा लेने के अनन्तर जब आपश्री द्वार की ओर मुड़ने लगे तो सहज में ही आपश्री की दृष्टि उस बहिन की बांधी गई लोह की सांकलों पर पड़ी। देखिए! निर्मल दृष्टि का अनूठा प्रभाव। सांकलें कच्चे सूत की भांति तड़ातड़ टूट कर गिर गईं। बहिन बन्धनमुक्त हो गई।

यह एक घटित प्रसंग पढ़ने को मिला है। महापुरुषों के जीवन में ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएं घटित हो जाती हैं। कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि जिसके जीवन में समीक्षण साधना होती है, जो विश्व के समस्त प्राणियों को त्राण देने वाला होता है, उनके प्रति आत्मीयता का व्यवहार रखने वाला होता है, उसका स्वतः ही ऐसा प्रभाव पड़ जाता है। आज भी उन्हीं महासाधक महायोगी के प्रबल तप संयम के प्रभाव से वह क्रान्तिकारी परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

वर्क; र्क | स | इक्कफोर | ग

यह तो मैं साधक जीवन की बात कह गया। गृहस्थ जीवन में रह

कर भी जो व्यक्ति यथाशक्य आत्मीय व्यवहार रखता है, दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयास करता है, दूसरों की रक्षा करता है, तो एक दिन उसकी भी रक्षा होती ही है। बात को स्पष्ट करने के लिए एक रूपक दे देता हूँ—

इंग्लैण्ड निवासी एक मनुष्य ने जीवन में ऐसा अपराध कर लिया था कि परिणामस्वरूप सरकार ने उसके लिए मृत्युदण्ड घोषित कर दिया। जब यह घोषणा उस व्यक्ति ने सुनी तो उसके मन में विचार आया कि अब मरना तो है ही, तथापि कुछ उपाय किया जाय। यही सोच कर वह मौका पाकर एक दिन पुलिस की पकड़-जकड़ से बाहर होकर जंगल में भाग गया। जंगल में भी उसे बहुत भय लग रहा था, क्योंकि पुलिस उसका पीछा कर रही थी। पुलिस की दृष्टि से ओझल होने के लिए वह एक विशाल गुफा में प्रवेश कर गया।

प्रवेश करते ही उसे ज्ञात हुआ कि गुफा में एक केशरी सिंह बैठा हुआ है, एकदम उसका मस्तिष्क झनझना उठा। सोचा बावड़ी से निकल कर कुएँ में आ फंसा, वहां पर भी मृत्यु द्वार खटखटा रही थी तो यहां पर भी मौत मुँह फैलाए सामने खड़ी है। अब मरना तो है ही, यह सोच कर निर्भय होता हुआ वह व्यक्ति शेर के सन्निकट पहुँच गया। इतने पर भी सिंह ने उसका कुछ भी प्रतिरोध नहीं किया। वह अपने स्थान पर ही बैठा रहा। ध्यान से देखने पर उसे मालूम हुआ कि शेर के पैर में बहुत बड़ा तीक्ष्ण कांटा चुभा हुआ है, परिणामस्वरूप वह चल नहीं पा रहा है, तीव्र वेदना का अनुभव कर रहा है। क्यों न मैं मौत के मुख में जाते-जाते यह परोपकार का काम कर लूँ— यह सोच कर वह और आगे बढ़ा और बड़ी ही सावधानी के साथ उसके कांटे को बाहर निकाल दिया, शेर स्वस्थ हो गया। इसके बाद भी वह व्यक्ति उसके सामने ही खड़ा रहा तथापि शेर ने उस पर वार नहीं किया, उसे खाया नहीं, मानो वह कृतज्ञता प्रकट कर रहा था कि तू ने मेरे ऊपर उपकार किया है, मैं तुझे कभी भी खा नहीं सकता हूँ।

कुछ देर ठहर कर शेर जंगल में चला गया, इधर पुलिस खोज करती हुई वहां पहुँच गई, और उस व्यक्ति को पकड़ कर न्यायालय में ले गये। इधर शिकारियों ने उस शेर को भी पकड़ लिया और उसे पिंजरे में बंद कर अजायबघर ले गए। शेर को तीन दिन तक भूखा रखा गया था। अपराधी का दुहरा-अपराध होने से उसे भूखे शेर के सामने खाद्य-पदार्थ के रूप में

फेंक दिया गया।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि तीन दिन का भूखा शेर, जो भूख के मारे दहाड़ रहा था, उसी के सामने उसकी खाद्य सामग्री आने पर भी उसे खाता नहीं, शांत हो जाता है और उस व्यक्ति से प्रेम करने लगता है।

दर्शकों को बहुत आश्चर्य हुआ। यह शेर क्यों नहीं खा रहा है, उस व्यक्ति को? खोज करने पर मालूम हुआ कि इस व्यक्ति ने कांटा निकाल कर शेर का उपकार किया है, परिणामस्वरूप शेर आज तीन दिन का भूखा होते हुए भी उसे नहीं खा रहा है। सरकार ने भी उस व्यक्ति को छोड़ दिया।

ध्यान समीक्षक बनी

बन्धुओ! यह तो एक घटना है, वह यह बतलाती है कि गृहस्थ जीवन में जब समीक्षण की दृष्टि आ जाय, दूसरे प्राणी के दुःखों को भी अपने समान देखने की विशुद्ध दृष्टि आ जाय तो उसे तात्कालिक लाभ ही होता है। उस व्यक्ति ने इतना ही तो किया कि उस शेर के कांटे को निकाल दिया। समीक्षण किया इस प्रसंग से अपना। परिणाम यह निकला कि वह मौत के मुख से भी बच गया।

यह तो एक व्यक्ति के साथ आत्मीय भावना का परिणाम था। यदि यह आत्मा संसार के समस्त प्राणियों के प्रति भी इस प्रकार की समीक्षण दृष्टि रखे तो उसकी क्या स्थिति बन सकती है, यह आप अपनी मति से विचार कीजिए।

जितने भी तीर्थंकर भगवंत होते हैं वे सभी समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता लिए हुए होते हैं। इसीलिए उनकी देशना में सभी प्रकार के हिंसक पशु भी अहिंसक भावना से भावित रहते हैं। शेर और बकरी का वैर उस समय समाप्त हो जाता है।

सज्जनो ! परम शांति की उपलब्धि के लिए जीवन में परिपूर्ण रूप से समीक्षण की स्थिति लानी होगी।



करुणा-तीक्ष्णता-समीक्षण

- ☛ कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध
- ☛ कर्म-विदारण का रहस्य
- ☛ मूल कारण की खोज
- ☛ सफलता का रहस्य : संकल्पशक्ति
- ☛ कर्मों का कर्जा

^dMk.k dEek.k u ekD[k vfrFK*

—उत्तराध्ययन सूत्र—4/3

कृत कर्मों का भोग किये बिना आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती। यह भोग चाहे प्रदेशोदय से हो या विपाकोदय से। अनन्तानन्त आत्माएं कर्म से आबद्ध हो, चार गति चौरासी लाख जीव योनियों में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रही हैं। कर्मों का आत्मा से अनादि सम्बन्ध होते हुए भी जीव स्वतः के सत्पुरुषार्थ जाग्रत कर कर्मों को आत्मा से समूलतः हटा कर परम सुख का वरण कर सकता है, जिस प्रकार मुर्गी एवं अंडे के, स्वर्ण तथा मिट्टी के अनादि सम्बन्ध को प्रयोग विशेष द्वारा व्यवोच्छिन्न किया जा सकता है।

कर्मबंध... आत्मा के लिये एक प्रकार का कर्ज है। जब तक इस कर्ज को आत्मा परिपूर्णतः नहीं चुकाती, तब तक कर्मों के भार से हल्की नहीं हो सकती।

मुमुक्षु आत्माओं को कर्म—कर्ज से मुक्त होने के लिये वीतराग प्रणीत सत्पुरुषार्थ को जीवन में स्थान देना आवश्यक है।



शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी,
विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा कोमलता तीक्ष्णता,
उदासीनता सोहे रे ।।शीतल ।।

बन्धुओ! सकल वस्तु स्तोम के विज्ञाता दसवें तीर्थकर शीतलनाथ भगवान् की स्तुति का प्रसंग उपस्थित हुआ है। कवि ने शीतल जिनपति का गुण—कीर्तन बहुत ही विलक्षण प्रकार से किया है।

जिन गुणों की अभिव्यक्ति सशरीर अवस्था में शीतलनाथ भगवान् में हुई थी और अशरीर में भी जो गुण विद्यमान हैं, वे सभी गुण विश्व की प्रत्येक आत्मा में सत्ता के रूप में सदा विद्यमान हैं। अन्तर बस इतना ही है कि शीतल भगवान् की आत्मा ने अपने सत्पुरुषार्थ के द्वारा कर्म कलिमल का प्रक्षालन कर आत्मिक गुणों को अभिव्यक्त कर लिया तो अन्य आत्माओं की आत्मिक शक्ति कर्मों से आबद्ध रही हुई है।

प्रत्येक तीर्थकर में अनन्त चतुष्टय की अभिव्यक्ति होती है— अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य। त्रिकालवर्ती लोकगत समस्त वस्तुओं को वे जान लेते हैं, देख लेते हैं। आत्मा के अनन्त गुणों की अभिव्यक्ति, अनन्त चारित्र की अभिव्यक्ति है। अनन्त शक्ति का स्रोत फूट पड़ना अनन्त वीर्य है। इन अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न शीतल जिनपति का गुणगान कवि ने स्याद्वाद दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए रहस्यभरी भाषा में अभिव्यक्त किया है।

करुणा, कोमलता, तीक्ष्णता के साथ उदासीनता की स्थिति भी प्रभु में बतलाई गई है।

करुणा, कोमलता, तीक्ष्णता, उदासीनता एक—दूसरे के प्रतिपक्षी गुण हैं। जहां करुणा है वहां तीक्ष्णता कैसे? जहां तीक्ष्णता है वहां करुणा कैसे? और जहां करुणा, तीक्ष्णता है वहां उदासीनता कैसे हो सकती है? किन्तु इन विपरीत गुणों का समावेश भी स्याद्वाद दृष्टिकोण से एक ही में हो जाता है। करुणा से तात्पर्य पर दुःख छेदन से लिया गया है। प्रभु विश्व की समस्त आत्माओं के दुःखों को दूर करने के लिये समुद्यत थे। समस्त प्राणियों के हित की भावना उनकी रग—रग में भरी हुई थी। जिनका विज्ञान समीक्षण परिपूर्ण

था। इसी दृष्टिकोण से उन्हें करुणा—कोमलता से युक्त वर्णित किया है।

कर्म विदारण में तीक्ष्ण होने से भगवान् में तीक्ष्णता का गुण बतलाया है।

संसार की प्रत्येक आत्मा कर्म से आबद्ध हो अनादि काल से चली आ रही है। इस कर्म शृंखला का सर्वतः विदारण जब तक नहीं किया जाता, तब तक आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती। आत्मा, कर्म बन्धन मुख्यतः कषायों के द्वारा करती है। विश्व का चप्पा—चप्पा कर्म—वर्गणाओं से कुप्पी में काजल की तरह खचा—खच भरा हुआ है। लोक का एक भी आकाश—प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां कर्म वर्गणाओं का अवस्थान न हो। ये कर्म वर्गणाएं, कर्म संज्ञा तब प्राप्त करती हैं, जब आत्मा से सम्बद्ध हो जाती हैं। जिस प्रकार आटा, रोटी या मिष्ठान्न की संज्ञा तब पाता है, जब वह उसी रूप में परिणत हो जाता है। आत्मा कषाय—राग—द्वेष की परिणति के साथ जब शुभ या अशुभ विचार करती है, तब उसमें लोहे चुम्बक की तरह कर्म वर्गणाओं को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति पैदा हो जाती है।

कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध

आत्मा के सर्वात्म प्रदेशों में कर्म वर्गणाएं संबद्ध होती हैं चाहे शुभ कर्मों का बन्धन हो या अशुभ कर्मों का, बन्धन सर्वात्म प्रदेशों से होगा। जिस प्रकार उकलते तेल के मध्य में बड़ा डाल दिया जाता है तो वह अपने सभी छिद्रों से तेल को ग्रहण करता रहता है। उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र विद्यमान कर्म वर्गणाओं को एक साथ ग्रहण करती रहती है।

जीव के साथ संबद्ध होकर वे जड़ कर्म वर्गणाएं भी सजीव कहलाने लगती हैं।

इन कर्मों का विभागीकरण मुख्यतः चार प्रकार से होता है— प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध।

कर्मों का अपने—अपने स्वभाव को प्रकृति बंध, उनकी नियत समय तक फल देने की शक्ति को स्थिति बंध, उस फल में आने वाली रस की तीव्रता—मंदता को अनुभाग बंध तथा कर्म दलिकों को प्रदेश बंध कहते हैं। जैसा कि कर्म सिद्धान्तकारों ने बतलाया है—

LoHko%i Nfr i kDr%lFkfr dkyko/kkj.keA

vuHkxks j l ks Ks % i ns kks ny l p; %AA

अभी मैं कर्म फिलासॉफी को विस्तार से नहीं समझा रहा हूँ। किन्तु यह संकेत दे रहा हूँ कि जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की व्याख्या बहुत गहन, गंभीर एवं साइंटिफिक तरीके से प्रतिपादित है। ऐसी व्याख्या अन्य दर्शनों में नहीं मिलती। अन्य दर्शनों में प्रारब्ध, माया, प्रकृति, वासना आदि शब्दान्तर से कुछ व्याख्या मिलती है, किन्तु वह कर्म की मौलिक विवेचना नहीं रख पाती।

ऐसे कर्म विदारण का संकेत प्रस्तुत स्तुति में किया गया है, जिन कर्मों के कारण आत्मा चार—गति, चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण कर रही है। जब तक इनका समूलतः उच्छेदन नहीं होगा तब तक आत्मा शाश्वत सुख की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकती।

कर्म विदारण का रहस्य

‘उत्तराध्ययन सूत्र’ के 20वें अध्ययन में अनाथी मुनि का वर्णन आता है। जब वे गृहस्थ अवस्था में थे, तब उनके अक्षि वेदना बहुत तीव्र हो चुकी थी। परिणामस्वरूप वे छटपटाने लगे। पारिवारिक सदस्य बेचैन हो उठे। उनकी वेदना को दूर करने के लिए धन को पानी की तरह बहाने लगे। वैद्य, हकीम, मंत्र—तंत्रवादी आने लगे। हर संभव प्रयास किया गया उनकी वेदना को शांत करने के लिये किन्तु वह तो द्विगुणित—चतुर्गुणित रूप से बढ़ती ही चली गई। वेदनीय कर्म का प्रबल उदय जो आ चुका था।

कर्म रूपी रोग का विदारण करने के लिये किया गया सारा का सारा बाह्य प्रयास व्यर्थ था। उसका विदारण तो आंतरिक उपायों से ही संभव था, वही हुआ। अक्षि वेदना की तीव्रता के समय उनके मन में बिजली की तरह एक विचार कौंधा— यदि मेरी यह वेदना शांत हो जाय तो प्रातः अरुणोदय के साथ ही मैं ‘खंता—दंतो निरारंभो पव्वइए अणगारियं, शान्त दान्त निरारंभी अनगार बन जाऊंगा।

रात्रि की नीरवता बढ़ने लगी, ज्यों—ज्यों वातावरण शांत होने लगा त्यों—त्यों उनकी वेदना भी शमित होती चली गई। प्रातः अरुणोदय के साथ ही संकल्प का आश्चर्यजनक प्रभाव हुआ। उनकी सारी वेदना समाप्त हो गई। पारिवारिक सदस्य चमत्कृत हो उठे। सभी अपनी—अपनी मनोतियों का प्रभाव मानने लगे। किन्तु अनाथी अनगार यह जानते थे कि यह प्रभाव किसका है? यह रोग विदारण की स्थिति कैसे बनी है?

रूपक बहुत लम्बा है, तात्पर्य इतना ही है कि कर्मों का विदारण

सिर्फ बाह्य उपायों से नहीं हो सकता। बल्कि आंतरिक दृढ़ संकल्प का होना भी आवश्यक है। संकल्प मात्र भी जब कर्म-विदारण करने में इस प्रकार सहायक हैं तो कर्म-विदारण के तदनुरूप उपायों को अपनाने पर आत्मा निश्चित ही परम सुख की अनुभूति करती है।

तीर्थकर भगवंत शीतलनाथजी ने आत्मा के गुणों का विघात करने वाले सभी कर्मों का तीक्ष्णता के साथ विदारण कर दिया था, उन्होंने समीक्षणता की परिपूर्णता को पाया था, इसीलिये उनमें करुणा-कोमलता के साथ ही तीक्ष्णता का गुण भी पाया जाता है।

मूल कारण की खोज

कर्म विदारण किन उपायों से किये जाते हैं, किन कारणों से कर्म बन्धन तथा कर्मोदय की स्थिति बनती है? इन सबका परिज्ञान करते हुए कर्म-बन्धन के मूल कारणों पर प्रहार करना चाहिये। जब तक कर्म-बन्धन के मूल-भूत कारणों पर प्रहार नहीं किया जायेगा, तब तक कर्मों का समूलतः नाश नहीं हो सकता। वनस्पतियों में आपने 'रजका' नाम सुना होगा। रजका के बोन के बाद जब वह बड़ा होता है, तब कृषक इसे ऊपर-ऊपर से काट लेते हैं। कटने के बाद भी वह कुछ ही दिनों के बाद पानी आदि के मिलने पर पुनः लहलहाने लगता है, क्योंकि उसकी जड़ नहीं काटी गई है। जब तक जड़ का उच्छेदन नहीं होगा, तब तक ऊपर से कितना ही काट लिया जाय फसल पुनः खड़ी हो जायगी। यह स्थिति हर क्षेत्र में होती है। रोग को दूर करने के लिये भी जब तक रोगोत्पत्ति के मूलभूत कारणों को नहीं हटाया जाएगा, तब तक रोग समूलतः नष्ट नहीं हो सकता। कर्म का विदारण भी समूलतः जब तक नहीं होगा, तब तक कर्म-बन्धन की प्रक्रिया भी चलती रहेगी। अपुनर्भाव से कर्मोच्छेदन के लिये त्रियोग समन्वित संयम तथा समीक्षण दृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता है।

इस प्रकार का संयमीय जीवन अनगारी अवस्था में ही अपनाया जा सकता है। अनगार से तात्पर्य जिसके कोई घर न हो। कल वहां देखे थे तो आज यहां हैं। आज यहां हैं तो कल कहीं और स्थान पर चले जायेंगे। इस प्रकार की वृत्ति वाले साधक को अनगार कहा गया है। इस प्रकार से विचरण करने वाला अनगारी साधक, कर्मोत्पत्ति के मूलभूत कारणों पर प्रहार करता हुआ उन्हें आत्मा से समूलतः उखाड़ फेंकता है। जब रजके को मूल सहित

काट देते हैं, तब वह पुनः नहीं उगता। उसी प्रकार साधक जब कर्मों का समूलतः छेदन कर देते हैं, तब आत्मा के साथ उन कर्मों का पुनः कभी भी बन्धन नहीं होता। वे कर्म आत्मा से सदा-सर्वदा के लिये अपुनर्भाव से विलग हो जाते हैं। तीर्थकर भगवन्त समूलतः ही कर्म-छेदन करते हैं। जिससे कभी भी उनके कर्मों का बन्धन पुनः नहीं होता है। शीतल जिनपति ने भी जिस रत्नत्रय रूप आराधना की, तीक्ष्णता के साथ कर्म-छेदन किया था, जिससे वे उनकी आत्मा से सदा-सर्वदा के लिये विलग हो चुके थे।

सफलता का रहस्य : संकल्पशक्ति

कर्म प्रणाश और आत्मा की परिपूर्ण शुद्धि के लिये सत्संकल्प शक्ति का मजबूत होना आवश्यक है। चाहे कितना ही दुःसाध्य कार्य हो, यदि मानव की संकल्प शक्ति दृढ़ है तो निश्चित ही कार्य की संपूर्ति होती है। संकल्प शक्ति इतनी मजबूत होनी चाहिये कि 'कार्य वा साधयामि देहं वा पातयामि'—कार्य को सिद्ध कर लूंगा या शरीर का उच्छेदन कर दूंगा। इस दृढ़ संकल्प के साथ साधना के पथ पर समीक्षण दृष्टि के साथ बढ़ने वाला साधक निश्चित ही लक्ष्य की प्राप्ति करता है। दसवें तीर्थकर शीतलनाथ भगवान् ने यह दृढ़ निश्चय किया था कि मुझे निश्चित रूप से कर्मों का आत्मा से विलगीकरण करना है। इसी दृढ़ संकल्प के साथ वे साधना के पथ पर समीक्षण दृष्टि के साथ, दृढ़ता के साथ बढ़ते चले गए। रत्नत्रय रूप आराधना विशुद्ध, विशुद्धतर, विशुद्धतम बनती चली गई। यही विशुद्धतम अवस्था इतनी तीक्ष्ण बनी कि वह कर्म की सुदीर्घ परम्परा को नष्ट करने में समर्थ हो गई। प्रभु ने लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त किया। प्रभु ने शीतलता ही नहीं परम शीतलता प्राप्त कर ली। वे शांत-प्रशांत अवस्था में लवलीन हो गए। आत्मा की चरम परिणति, शीतलता अर्थात् परिपूर्ण शांत-प्रशांत अवस्था प्राप्त करना है।

कर्मों का कर्मा

समय का परिपाक होने पर निश्चित रूप से कर्म का उदय आत्मा पर होता है। प्रदेशोदय या विपाकोदय, चाहे किसी प्रकार से हो। कर्म को भोगे बिना आत्मा की इस कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" —कृतकर्म से भोग के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कर्म का आत्मा से अनादि सम्बन्ध होते हुए भी आत्मा सत्पुरुषार्थ के बल से उसे

विलग कर सकती है। जिस प्रकार कि मुर्गी एवं अण्डे, स्वर्ण और मिट्टी के अनादि सम्बन्ध को प्रयोग विशेष द्वारा व्यवच्छिन्न किया जा सकता है। आत्मा के लिये कर्म भी एक कर्ज है। जिस प्रकार कर्जदारों में वह व्यक्ति श्रेष्ठ होता है जो अपने पास धन-सम्पत्ति के सुलभ होने पर निश्चित सीमा से पहले ही कर्ज चुका दे जिससे वह शीघ्र ही उस कर्ज से हल्का हो जाय। ठीक उसी प्रकार आत्मा पर जो कर्ज है, उसे सुझ आत्मा शीघ्र ही चुकाने का प्रयत्न करे। मानव तन, स्वस्थता, जिन-धर्म का सुयोग आदि दुर्लभ वस्तुएं प्राप्त हैं- ऐसे सुयोग में पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरित करने के लिये प्रयास करना चाहिये। आत्म-शक्ति की तीक्ष्णता होने पर ही कर्म का कर्ज चुकाया जा सकता है। उस कर्मों के कर्ज को चुकाने के लिये सत्पुरुषार्थशील बनना चाहिये। आज का पुरुषार्थ निश्चित ही पूर्व के गृहीत कर्म-कर्ज को चुकाने में समर्थ होगा, साथ ही रत्नत्रय की शुभाराधना रूप तीक्ष्णता से आने वाला कर्म-बन्धन का कर्ज भी रुक जाएगा। आत्मा कर्मों से हल्की होती चली जाएगी। अन्ततः वह भी अपुनर्भाव से कर्म-कर्ज से विमुक्त हो जाएगी।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध लगने वाले करुणा, कोमलता एवं तीक्ष्णता रूप गुण भी शीतल जिनपति में पाये गये। कवि ने तीसरा गुण उदासीनता रूप गुण बतलाया है। उन तीनों को सम्मिलित कर गुणों की ललित त्रिभंगी बतलाई है। उदासीनता रूप गुण की व्याख्या भी समय पर उपस्थित करने का विचार है।

कर्मों का विनाश करने वाले प्रत्येक जिज्ञासु को समीक्षण दृष्टि के साथ साधना पथ पर चलना होगा। समीक्षण दृष्टि के माध्यम से ही आत्मा के परस्पर विरुद्ध गुण, कोमलता और तीक्ष्णता का सही सामंजस्य बन पाता है। समीक्षण ही जीवन के काषायिक ऊबड़-खाबड़ पथ को सपाट बनाने वाला होता है। अर्थात् जीवन का सही स्वरूप उजागर करने वाला होता है। जीवन के प्रत्येक कार्य में, हर गतिविधि में समीक्षण दृष्टि होना आवश्यक है। समीक्षण की परिपूर्णता ही आत्मा से परमात्मा रूप की अभिव्यक्ति है।



4

करुणा बनाम अभय

- सर्वश्रेष्ठ दान : अभय
- मृत्यु की वेदी पर
- रानियों का वरदान
- वरदान से जीवन दान
- रानियों को ईर्ष्या छोटी रानी से
- अभय दान की सर्वश्रेष्ठता
- अभय प्रदाता शीतल प्रभु
- अभय दान से तीर्थकरत्व प्राप्ति

^nk.kk.k | १/BavHk; li ; k.kā*

—सूत्रकृतांग सूत्र 1/6/23

सभी दानों में अभयदान सर्वश्रेष्ठ दान है। आहार दान, ज्ञान दान, औषध दान भी अपने-अपने स्थान पर उपयोगी हैं, किन्तु इन सभी दानों का आधारभूत अभय दान है। मृत्यु के भय से आतंकित व्यक्ति को कितना ही आहार दान, औषध दान, ज्ञान दान दिया जाय, तथापि उसे शांति नहीं मिल सकती। अतः मृत्यु के भय से आतंकित व्यक्ति को निर्भय बनाने वाला अभय दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।

जब जीव संसार की समस्त आत्माओं के साथ अपना आत्मीय व्यवहार रखता है, प्रत्येक प्राणी के प्रति करुणावंत बना रहता है, तब उसकी यह आत्मीय भावना स्वयं के परमात्म स्वरूप को उजागर करने में सहायक होती है।

“अभय दान” अभय दान—गृहीता को तो अभयी बनाता ही है, किन्तु प्रदाता के कर्म—निर्जरा एवं पुण्यार्जन में हेतु बनता है।

अभय दान तभी दिया जायेगा जब दृष्टि समीक्षण बनेगी।



शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी

विविध भंगी मन मोहे रे।

करुणा—कोमलता—तीक्ष्णता

उदासीनता सोहे रे। शीतल।।

अनन्त कृपालु शीतलनाथ भगवान् की स्तुति का प्रसंग चल रहा है। कवि ने शीतल जिनपति के अनन्त—अनन्त गुणों में से मुख्यतया तीन गुणों का चयन कर उनकी संक्षिप्त व्याख्या स्तुति के रूप में प्रस्तुत की है।

गुणों की त्रिभंगी में प्रथम गुण करुणा का लिया गया है। शीतल भगवान् परम करुणावंत थे। करुणा को विविध आयामों, विविध परिप्रेक्ष्यों द्वारा विविध रूपों में देखा जा सकता है। करुणा को अनुकम्पा अहिंसा के रूप में भी लिया जा सकता है। भगवान् समस्त प्राणियों के प्रति परम करुणावंत थे। उनकी ओर से समस्त प्राणी वर्ग निर्भय थे। वे सभी को अभय देने वाले थे। इसीलिये जिनेश्वर का गुण कीर्तन करते हुए ‘शक्रस्तव’ में ‘अभय दयाणं’ अभय दाता के रूप में भी प्रभु को सम्बोधित किया है।

कवि ने भी कहा है— ‘अभय दान तेमलक्षय करुणा’

सर्वश्रेष्ठ दान-अभय

मुख्यतया दान के चार प्रकार किये जा सकते हैं— आहार दान, औषध दान, ज्ञान दान, अभय दान। शुभ भाव से अन्नादि का दान आहार दान है। रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करने के लिये औषध देना औषध दान है। अबोध व्यक्ति को सही बोध कराना ज्ञान दान है। भयभीत अर्थात् मृत्यु आदि के भय से आतंकित प्राणी को निर्भय बना देना, अभय दान है।

यद्यपि चारों प्रकार के दानों की अपनी-अपनी यथास्थान उपादेयता है तथापि अभय दान को चारों ही प्रकार के दानों में सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है— जैसा कि ‘सूत्रकृतांग सूत्र’ के प्रथम श्रुत—स्कंध के वीर स्तुति नामक अध्ययन में बतलाया है—

^nk.kk.k | १/BavHk; li ; k.kā*

सभी दानों में अभय दान श्रेष्ठ है। अन्न का अक्षय कोष हो, विविध प्रकार की दवाओं का भण्डार हो, प्रकाण्ड विद्वत्ता हो किन्तु यदि व्यक्ति मृत्यु

के भय से भयभीत है तो उपर्युक्त वस्तुएं उसके लिये उपयोगी नहीं बनती।

कितना ही ऐश्वर्यशाली पुरुष हो, खाने के लिये अच्छे से अच्छा मिष्ठान्न हो, सब प्रकार की भौतिक सुख-सामग्री उपलब्ध हो, किन्तु यदि मृत्यु का भय उसके मस्तिष्क में मंडरा रहा हो तो संसार की कोई भी वस्तु उसे शांति प्राप्त नहीं करा सकती। जब तक वह मृत्यु के भय से मुक्त नहीं बन जाता, तब तक उसकी अशान्तता, शारीरिक-मानसिक रोग-रुग्णता बढ़ती ही चली जाती है।

मृत्यु की वेदी पर

इस बात को एक छोटे-से रूपक द्वारा समझा जा सकता है- राजा अरिमर्दन के राज्य में एक चोर चोरी के अक्षम्य अपराध में पकड़ा गया। प्राचीन युग के राजा अपराधियों को दण्ड देने में प्रायः बहुत कठोर होते थे, जिससे भविष्य में दूसरा व्यक्ति वैसा अपराध करने का दुस्साहस नहीं कर सके। राजा अरिमर्दन भी इसका अपवाद नहीं था। चोर के पकड़े जाने पर जब उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया गया तो राजा अरिमर्दन ने सारी स्थिति को समझते हुए अपराधी को दण्ड के रूप में मृत्यु की सजा का आदेश दिया।

उस समय की परम्परा के अनुसार अपराधी का मुँह काला किया गया, गधे पर बिठाया गया, डिण्डिम नाद के साथ राजपुरुष शहर के मुख्य मार्गों में इस घोषणा के साथ घुमाने लगे- “इस व्यक्ति ने राज्य-विरुद्ध चोरी का निन्दनीय अपराध किया। इसी अपराध के कारण इसे मृत्यु दण्ड की सजा दी जा रही है। जो कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के निन्दनीय अपराध को करेगा उसे भी इसी प्रकार दण्डित किया जाएगा।”

इस प्रकार की घोषणा करते हुए राजपुरुष जब उसे राजमहलों के पास से ले जा रहे थे उस समय चारों रानियों के साथ राजा अरिमर्दन वातायन में बैठा नगर की शोभा निहार रहा था। रानियों ने जब राजपथ पर किसी अपराधी को ले जाते हुए देखा तो राजा से पूछा- “प्राणेश्वर! इस व्यक्ति को किस अपराध में मृत्यु दण्ड दिया जा रहा है?”

राजा ने बतलाया- “प्रिये! इसने चोरी जैसा जघन्य कर्म कर राज्य की जनता को बहुत उत्पीड़ित किया है। इसी अपराध में इसे दण्डित किया जा रहा है।”

रानियों का वरदान

चारों ही रानियां उसकी दीन दशा देख कर द्रवित हो उठीं और उसे बचाने का उपाय सोचने लगीं। इतने में ही उन्हें राजा द्वारा दिए गए वरदान की बात याद आ गई।

सबसे बड़ी रानी ने राजा द्वारा दिये गये वरदान की याद दिलाते हुए कहा कि “प्राणेश्वर! आज उस वरदान का अवसर आ गया है, आप मेरी भावना पूरी करिये।”

“बोलो-बोलो प्रिये! तुम्हारी क्या इच्छा है? मैं अपने वरदान के अनुसार तुम्हारी इच्छा पूरी करने के लिए तत्पर हूँ।” राजा की इस बात को सुन कर रानी ने कहा- “प्राणेश्वर! एक दिन-रात के लिए आप इस अपराधी की मृत्यु की सजा रोक कर इसे मेरे सुपुर्द कर दीजिये।”

“जैसी तुम्हारी इच्छा।”

राजा के आदेश को पाकर राजपुरुषों ने एक दिन के लिये अपराधी को सबसे बड़ी रानी के सुपुर्द कर दिया। रानी ने अपराधी चोर को मनोज्ञ भोजन करा कर एक हजार स्वर्ण मुद्राएं देकर तुष्ट किया। एक दिन-रात के लिये बड़ी रानी ने अपराधी की मृत्यु बचा ली। अपराधी ने रानी के प्रति बहुत कृतज्ञता ज्ञापित की। बहुत-बहुत आभार प्रदर्शित किया।

बड़ी रानी की प्रशंसा सुन कर दूसरी रानी के मन में भी अपनी प्रशंसा करवाने की इच्छा बलवती हो उठी। उसने भी अनुकूल अवसर देख कर राजा से अपना वरदान मांग ही लिया और एक दिन के लिये उसने चोर की प्राण रक्षा की और उसे अच्छा खाना खिला कर पांच हजार स्वर्ण मुद्राएं प्रदान कर तुष्ट किया। चोर ने दूसरी रानी के प्रति भी आभार प्रदर्शित किया। तीसरी रानी भी यह अवसर कब चूकने वाली थी। उसने भी राजा को अपना वरदान याद दिला कर चोर को एक दिन के लिए निर्भय बना दिया। उसे अच्छा खिलाया-पिलाया और दस हजार स्वर्ण मुद्राएं प्रदान कीं। चोर ने तीसरी रानी का भी गुणानुवाद गाया और उसके प्रति भी अपना आभार ज्ञापित किया।

वरदान से जीवन दान

चौथी रानी को भी यह अवसर अनुकूल लगा। उसने भी राजा को

अपने वरदान की याद दिला कर चोर को अपने पास बुलाया और कहा— “चौर्य कर्म बहुत ही निन्दनीय है, इसी कारण आज तुम्हें मृत्यु दण्ड मिल रहा है। बोल तू क्या चाहता है? जीना चाहता है या मरना ही?” चोर तत्काल बोल उठा— “महादेवी ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये, केवल जीवन—जीवन— जीवन। मैं तुम्हारे चरणों में गिरता हूँ, मुझे बचा लो, जन्म—जन्म तक मैं आपका उपकार नहीं भूलूँगा। बस, मुझे बचा लो।”

छोटी रानी ने कहा— “मैं तुम्हें बस एक ही शर्त पर बचा सकती हूँ— तुम यह निन्दनीय कार्य सदा—सदा के लिए छोड़ दो।”

“हे अम्बे ! मैं तैयार हूँ। अब कभी भी ऐसा कार्य नहीं करूँगा— जो राज्य—विरुद्ध होगा। शिष्टता एवं सभ्यता के साथ रहूँगा। बस, तुम मुझे बचालो। डूबते हुए को उबार लो।”

महारानी ने चोर को आश्वासन दिया, और सम्राट के पास पहुंची— बोली, “प्राणेश्वर ! राज्य का दण्ड विधान दोषों का नाश करने के लिए है या दोषियों का नाश करने के लिए है?”

सम्राट ने कहा— “महारानी ! दण्ड का संविधान तो दोषों का नाश करने के लिए है।”

“तो बस राजन् ! अब मुझे आपके द्वारा दिए वरदान से और कुछ नहीं चाहिए— चोर को मृत्यु दण्ड मत दीजिए, उसे जीवन दान दे दीजिए।”

सम्राट अवाक् रह गया, बोला— “देवी ! तुम यह क्या कह रही हो? क्या मैं उस भयंकर दुर्दान्त चोर को छोड़ दूँ जिसे पकड़ने में कितना समय लगा था? इसे छोड़ने पर देश की जनता क्या कहेगी? सोचो रानी ! यह गम्भीर विषय है, तुम और कुछ मांग लो।”

रानी ने कहा— “राजन् ! मैंने बहुत सोच—समझ कर वर मांगा है। उस अपराधी ने सदा—सदा के लिए निंद्य कर्म का त्याग कर दिया है अतः आप उसे बचा लीजिए।”

प्रतिज्ञा के अनुसार राजा ने चोर को निर्भय कर दिया। अब तो चोर मुक्तकण्ठ से छोटी रानी की प्रशंसा करने लगा। पूरे नगर में छोटी रानी की चर्चा होने लगी। नागरिक भी प्रशंसा करने लगे।

रानियों की ईर्ष्या छोटी रानी से

यह चर्चा जब तीनों रानियों ने सुनी तो ईर्ष्या से दग्ध हो उठीं। अरे ! इसने चोर को दिया ही क्या है— हमने तो उसे बहुत सारी स्वर्ण मुद्राएं दीं, फिर भी लोग उसी की प्रशंसा कर रहे हैं। हमारी तो कोई चर्चा ही नहीं करता। जब कि हमारा दान सबसे ज्यादा दान था। बड़ी रानी ने कहा— मैंने उसे एक हजार स्वर्ण मुद्राएं दीं। दूसरी ने कहा— मैंने उसे तुम्हारे से भी अधिक पांच हजार स्वर्ण मुद्राएं दीं। तीसरी ने कहा— अरे ! मैंने तो तुम्हारे से भी अधिक दस हजार स्वर्ण मुद्राएं दी हैं। जब कि चौथी रानी ने कुछ नहीं दिया— फिर भी जनता उसी की प्रशंसा कर रही है। सम्राट से अवश्य इसका निर्णय कराना चाहिए— किसका दान सर्वश्रेष्ठ दान है?

बंधुओ ! देखिए ईर्ष्या का परिणाम। मानव जब ईर्ष्यालु बन जाता है तब अपने विवेक—चक्षु खो बैठता है। बस, सदा अपनी आत्म—प्रशंसा का ही इच्छुक बना रहता है। दूसरों की सच्ची प्रशंसा एवं उनके गुणों का विकास उसे फूटी आंख भी नहीं सुहाता। ईर्ष्या दग्ध मानस हित—अहित के विचार की क्षमता को खो बैठता है। किसी व्यक्ति की उन्नति को देख कर जल—भुन उठता है। उन्नतिशील व्यक्ति का पतन कैसे किया जाय, बस इसी की उधेड़—बुन में वह जिन्दगी के अमूल्य क्षणों को खो बैठता है। ईर्ष्या—दग्ध मानस कभी भी अपनी उन्नति नहीं कर सकता, आत्मविकास का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

सुज्ञ चिन्तकों को सदा दूसरों की उन्नति में ‘गुणिषु प्रमोद’ प्रमोद भाव होना चाहिये। आत्मविकास के लिये साधक का चिन्तन स्वपरानुप्रेक्षी होना चाहिये। दूसरों की उन्नति को देख कर यह सोचना चाहिये कि यह भी बढ़े और मैं भी बढ़ूँ। मैं भी अपने में ऐसे—ऐसे गुणों का निष्पादन करूँ, जिनसे मेरी भी उन्नति हो। इस प्रकार से सोचने वाला साधक ही आत्मविकास की दिशा में प्रगतिशील बनता है।

किन्तु वे ईर्ष्या—दग्ध तीनों महारानियां छोटी रानी की प्रशंसा सहन नहीं कर पाईं और किसका कार्य सर्वश्रेष्ठ है, इसका निर्णय लेने के लिये तीनों मिल कर सम्राट के निजी कक्ष में पहुंचीं। तीनों को एक साथ देख कर सम्राट अवाक् रह गया ! बोला— “क्या चाहती हो? किसलिये तीनों का एक साथ मिल कर यहां आना हुआ है?”

बड़ी महारानी ने तीनों की समस्या सामने रखी और दान की सर्वश्रेष्ठता का निर्णय करने के लिये निवेदन प्रस्तुत किया।

अभय दान की सर्वश्रेष्ठता

सम्राट स्वयं विचार में पड़ गये— सोचने लगे— यद्यपि छोटी रानी का दान कार्य ही सर्वश्रेष्ठ है किन्तु निर्णय मैं दूंगा तो ये सोच बैठेगी कि मैंने इसका पक्ष लिया है। अच्छा हो, चोर इस बात का निर्णय दे। यह सोच कर सम्राट ने कहा— “आपकी बात विमर्शनीय है। इसका निर्णय मैं दूँ, इससे श्रेष्ठ तो यह होगा कि स्वयं चोर ही इस बात का निर्णय दे कि उसे वास्तव में किसने सर्वश्रेष्ठ दान दिया है।” तीनों रानियां मान गईं। सभी के समक्ष चोर को बुलाया गया और कहा गया कि बोलो— “इन चारों रानियों में से सबसे अधिक दान तुम्हें किसने दिया?”

सम्राट की बात सुन कर चोर विस्मय में पड़ गया फिर भी उसे कुछ तो कहना ही था— बोला— “राजन्! बड़ी रानी का भी महान् उपकार है। इन्होंने मुझे एक दिन का जीवन दान दिया, साथ ही एक हजार स्वर्ण मुद्राएं भी। इसी प्रकार दूसरी व तीसरी रानीजी का भी बहुत उपकार है, इन्होंने भी क्रमशः एक-एक दिन का जीवन दान तथा पांच व दस हजार स्वर्ण मुद्राएं भी प्रदान कीं। इनका उपकार भी मैं नहीं भूल सकता। किन्तु राजन्! चौथी रानी का उपकार तो अनन्य है। इनके दान के लिये तो मेरे पास कहने योग्य कोई शब्द ही नहीं हैं। तीनों रानियों ने यद्यपि मेरा रक्षण— सत्कार—सम्मान एवं स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया, किन्तु फिर भी मेरा मन अशान्त एवं उद्विग्न ही बना रहा। मुझे मानसिक शान्ति बिल्कुल नहीं मिल पाई क्योंकि राजन्! अन्ततः तो मेरे मस्तिष्क पर मृत्यु ही मंडरा रही थी। किन्तु जब चौथी रानी ने मुझे अभय कर दिया, मृत्यु का भय—चक्र मेरे मस्तिष्क से हटा दिया तो मेरा तन—बदन अत्यधिक परितोष को प्राप्त हुआ। यद्यपि छोटी रानी ने मुझे धन के रूप में कुछ भी नहीं दिया, लेकिन निर्भयता का जो महान् दान दिया उसके सामने संसार की सम्पूर्ण वस्तुएं तुच्छ हैं। अतः हे राजन्! छोटी महारानी का दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।”

बन्धुओ! यह तो एक घटना क्रम मैं आपके सामने रख गया। घटना चाहे किसी भी रूप में घटी हो या नहीं किन्तु इस घटना से यह शाश्वत सन्देश मिलता है कि संसार के समस्त प्राणी अपना जीवन चाहते हैं, मरना नहीं चाहते। अतः मृत्यु के भय से जिसे निर्भय किया जाता है, उसकी आत्मा परम संतोष को प्राप्त होती है। इसीलिए अभय दान ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

अभय प्रदाता शीतल प्रभु

शीतलनाथ भगवान् ने जगत के त्रस, स्थावर आदि समस्त प्राणियों को अभय दान दिया था। वे सभी के प्रति असीम करुणावंत थे। उनकी ओर से जगत के समस्त प्राणी निर्भय थे। इसीलिये कवि द्वारा प्रतिपादित गुणों में से करुणा के अन्तर्गत अभय का भी ग्रहण होता है।

करुणा की व्याख्या करते हुए कवि ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—

I oZ tUrqrgrdj .kh d#.kka

करुणा से तात्पर्य समस्त जन्तुओं का हित करना है। जिस प्राणी का विश्व की समस्त आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव रहा हुआ है। जो अपने ही दुःख के समान विश्व की समस्त आत्माओं के दुःख को समझता है अर्थात् जिस प्रतिकूल सामग्री से मुझे दुःख होता है, उसी सामग्री से अन्य आत्माओं को भी दुःख होता होगा— इस प्रकार की समीक्षण दृष्टि को लेकर चलने वाली आत्मा कभी भी, किसी भी जीव का हनन नहीं कर सकती। तीर्थकर भगवन्त इसी आत्मीय भावना से सम्पन्न होते हैं। उनकी रग—रग जीवों के प्रति परम करुणा से अनुस्यूत होती है।

शीतल जिनपति के करुणा गुण को लक्ष्य में रखते हुए आत्मविकास के अभीप्सु मानवों को अपने से छोटे—बड़े समस्त प्राणियों के प्रति करुणावंत बनना चाहिये अर्थात् समीक्षण दृष्टि बनानी चाहिये।

अभय दान से तीर्थकरत्व प्राप्ति

समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पा रखते हुए करुणा की उत्कर्ष भावना आने पर आत्मा तीर्थकर नामकर्म जैसी परम प्रकर्ष पुण्य प्रकृति का बंधन कर सकती है। क्योंकि अभय दान—सुपात्र दान देता हुआ जीव कर्मों को कोटि—कोटि खपाए और उत्कृष्ट रसायन आवे तो तीर्थकर नामरूप प्रकृति का बंधन करे। इस अभय दान—सुपात्र दान के माध्यम से कई आत्माओं ने तीर्थकर नामकर्म की प्रकृति पूर्व में भी बंधन की है, भविष्य में भी करेंगे और वर्तमान में भी कर रहे हैं।

अन्ततः सभी मुमुक्षु आत्मायें शीतल जिनपति की स्तुति के प्रसंग से जगतवर्ती आत्माओं के प्रति करुणावंत बनने का प्रयास करेंगी, तो एक न एक दिन अपनी आत्मा को गुणों से विकसित करती हुई परम स्वरूप का वरण कर लेंगी।

यही मंगल कामना है।



5

करुणा के तीन रूप

- छद्मस्थों के लिये आदर्श : वीतरागी
- सर्व जन्तु हितकारिणी करुणा
- पर-दुःख छेदन-इच्छा करुणा
- अभयदान ते मल क्षय करुणा
- बाह्य मल क्या है?
- आन्तरिक मल क्या है?
- स्वच्छता विदेशों में
- आँखों देखा हाल
- स्वच्छता का परम प्रतीक-साधु जीवन
- करुणा से परम लक्ष्य की प्राप्ति

I 00fl a thfo; a fi ; a

आचारांग सूत्र 1, 2, 3

संसार के समस्त प्राणियों को जीवन प्रिय है। मरना कोई नहीं चाहता, सभी जीना चाहते हैं। समस्त चराचर प्राणियों की रक्षा करना करुणा है। करुणावंत साधक अखिल प्राणियों के दुःखों को दूर करने की निःस्वार्थ भावना वाले होते हैं। यह भावना स्वयं के कर्म रूपी मल को दूर करने वाली बनती है।

जिस प्रकार प्रकाशमान हीरा रजकण द्वारा मलिन हो जाता है। चमकता गोल्ड (सोना) मिट्टी के कारण मलीमष बन जाता है। इसी प्रकार अनन्त-अनन्त गुणों से सम्पन्न आत्मा भी कर्मों के मल से मलीमष बन जाती है। इसका स्वाभाविक रूप विकृत बन जाता है। इस विकृत रूप को हटाने में समस्त प्राणियों के प्रति रखी जाने वाली करुणा अत्यधिक सहायक बनती है। निःस्वार्थ करुणा भाव की चरम परिणति ही परमात्म भाव को उजागर करती है।



शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी,
विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा कोमलता तीखणता,
उदासीनता सोहे रे।।

आत्मा के विविध गुणों का बोध प्राप्त करने के लिये तीर्थकर भगवंतों के गुण-स्मरण का प्रसंग चल रहा है। महापुरुषों का गुण-कीर्तन हम इसलिये न करें कि वे हमारे पर प्रसन्न हों, खुश होकर हमें भौतिक सुख प्रदान कर दें व कर्म बन्धन से विमुक्त कर मुक्ति की प्राप्ति करवा दें। वे महापुरुष तो हमारे लिये आदर्शभूत होते हैं, उन्हें निमित्त बनाकर स्व के पुरुषार्थ से ही आत्मा, कर्म-मुक्ति की दिशा में प्रगतिशील बन सकती है। कोई भी अरिहंत या सिद्ध भगवंत किसी भी मुमुक्षु आत्मा के द्वारा गुणानुवाद करने पर कभी भी प्रसन्न नहीं होते और न ही किसी अवगुणी व्यक्ति के द्वारा निन्दा करने पर नाराज होते हैं। वे वीतरागी होते हैं। उन्हें किसी पर भी राग या द्वेष नहीं होता।

छद्मस्थी के लिये आदर्श : वीतरागी

ऐसे वीतरागी महापुरुषों की गुण स्तवना स्वात्मीय जीवन को आलोकित करने में सहायक होती है। सिद्धान्त की दृष्टि से जिस प्रकार धर्मास्तिकाय तत्त्व गति-क्रिया में सहायक होता है। गति सहायक तत्त्व की खोज में अब तक का वैज्ञानिक अनुसंधान 'ईथर' के नाम से सामने आया। यह तत्त्व सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। जब भी कोई प्राणी गति-क्रिया करता है तो वह गति-क्रिया होती तो स्वयं के पुरुषार्थ से है किन्तु उस गति-क्रिया में धर्मास्तिकाय द्रव्य सहायक होता है।

इसी प्रकार भव्य आत्माओं के विकास में आदर्श रूप में सिद्ध भगवंत आदि लोकोत्तर महापुरुष सहायक बन जाते हैं। अरिहंत आदि महापुरुष तो उपदेशादि के माध्यम से भी भव्यात्माओं को प्रतिबोधित करने में सहायक बनते हैं, किन्तु सिद्ध भगवंत तो मात्र आदर्श के रूप में भव्य आत्माओं के लिये स्व के आत्मीय गुणों को व्यक्त करने में सहायक रूप बनते हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक व्यावहारिक रूपक भी लिया जा सकता है।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति आईने में अपना मुँह देखता है और जब उसे अपने चेहरे पर काला धब्बा दिखलाई देता है तो उस धब्बे को वह अपने

ही पुरुषार्थ द्वारा हटाकर चेहरे को स्वच्छ बना लेता है। आईना उसमें मात्र सहायक होता है। मूलतः तो धब्बे को हटाने का प्रयास स्वयं को ही करना पड़ता है। इसी प्रकार आईने की तरह आदर्श रूप में सिद्ध एवं अरिहंत भगवान अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्म रूप काले धब्बे को हटाने में सहायक बनते हैं।

भव्य आत्माएं उनके आदर्श रूप जीवन के साथ जब अपनी आत्मा का तुलनात्मक अध्ययन करती हैं तो उन्हें कर्म का काला धब्बा स्पष्ट नजर आ जाता है— जो कर्म आत्मगुणों को मलीमष बनाते हैं और जीव के ऊर्ध्वारोहण में अवरोधक बनते हैं, साधना की उच्चतम श्रेणियों पर पहुँचने के लिये ऐसे कर्ममल का आत्मा से प्रक्षालित होना आवश्यक है।

सर्व जन्तु हितकरणी करुणा

गत चौबीसी में हुए सभी तीर्थकर भगवन्त मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं। अतः उनका गुण-स्मरण अरिहंत-सिद्ध दोनों प्रकार से किया जा सकता है।

शीतलनाथ भगवान् के गुणों का प्रसंग जो आपके समक्ष चल रहा है— उसमें भी मुख्यतः तीन गुणों की स्तवना कवि ने प्रस्तुत की है। उन गुण, रूप, ललित त्रिभंगी की व्याख्या भी कवि ने मुख्यतया तीन-तीन प्रकार से की है।

करुणा की प्रथम व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है—

१ oZ tUrqfgrdj .kh d#.kk*

वीतराग देव की वृत्ति जगत् के समस्त चराचर प्राणियों का हित करने वाली होती है। यहां तक कि तीर्थकर भगवंतों की देशना भी समस्त प्राणियों के हित एवं सुख के लिये ही होती है। जैसा कि प्रश्न-व्याकरण सूत्र में बतलाया है—

I 0o tx tho jD[k.k n; VB; k, i ko; .kalkxo; k l pfg; a

समस्त जगत् के जीवों का रक्षण करने के लिये भगवन् के द्वारा प्रवचन प्रवेदित किया गया। समस्त प्राणियों के हित रूप वृत्ति वाले होने से भगवान् करुणावंत थे। उनकी हर गतिविधि जीव-रक्षण रूप कोमलता से युक्त थी। यह करुणा की प्रथम व्याख्या है।

पर-दुःख छेदन-इच्छा करुणा

कवि ने करुणा की दूसरी व्याख्या इस प्रकार की है— 'पर-दुःख छेदन-इच्छा करुणा।'

इससे तात्पर्य यह है कि भगवान् समस्त जीवों को दुःखों से उपरत करने की विशुद्ध इच्छा वाले थे। क्योंकि संसार के समस्त प्राणी (जीना) जीवन चाहते हैं— **I Oofl a thfo; ali ; a**मरना कोई नहीं चाहता है, अर्थात् मरने में वे दुःखानुभूति करते हैं।

भगवान् की करुणा चरम छोर को छू चुकी थी। आधि-व्याधि एवं उपाधि के दुःखों से ग्रस्त संसारी प्राणियों को देख कर वे उन्हें दुःखों से उपरत करने के लिये सदा उत्कण्ठित रहते थे। उनकी करुणा का कितना प्रभाव था और वे जीवों के प्रति कितने अधिक करुणावंत थे— ये तो उनके अतिशय ही स्पष्ट कर देते हैं।

तीर्थकर भगवंत जिस किसी भूखंड में विचरण करते हैं, उसके आस-पास चारों ओर पच्चीस-पच्चीस योजन (सौ-सौ कोस) की दूरी तक इति-चूहे आदि जीवों से धान्यादि की क्षति नहीं होती, प्लेग आदि जन-संहारक रोग नहीं होते। स्वचक्र-स्वराज्य, पर चक्र-पर राज्य की ओर से किसी प्रकार का भय नहीं होता। अतिवर्षा, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष एवं दुष्काल की स्थिति भी नहीं बनती है। यहां तक कि पूर्व में किसी प्रकार का उपद्रव चल रहा हो तो वह भी शांत हो जाता है। उनके समवसरण में जन्मजात शत्रु सर्प-नेवला, बकरी-शेर भी सारे वैर भाव को भूल कर प्रेम के साथ एकत्रित होकर देशना का पान करते हैं।

इन अतिशयों से स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थकर भगवंत जीवों के प्रति कितने करुणाशील होते हैं। भगवान् शीतलनाथ को इसलिये पर दुःख छेदन करने वाला भी कहा है।

करुणा की तीसरी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अभयदान ते मल क्षय करुणा

अभयदान के साथ कर्म मल का क्षय करने को भी करुणा कहा गया है। गत दिन अभयदान के विषय में चर्चा कर चुके हैं। आज उससे सम्बन्धित कर्म मल क्षय के विषय में कुछ चर्चा कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार प्रकाशमान हीरा रजकण लग जाने से मलिन बन जाता है, जिस प्रकार चमकदार गोल्ड (सोना) मिट्टी के कारण मलीमष हो जाता है, ठीक इसी प्रकार अनन्त-अनन्त गुणों से सम्पन्न आत्मा कर्मों से आबद्ध होकर मलीमष बन जाती है, उसका स्वाभाविक स्वरूप विकृत बन जाता है।

जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रिया से हीरे का प्रकाश एवं स्वर्ण की चमक लाई जा सकती है, उनका मलिन रूप हटाया जा सकता है, उसी प्रकार सत्-पुरुषार्थ के द्वारा आत्म संबद्ध कर्म परमाणुओं का पौद्गलिक प्रभाव भी हटाया जा सकता है। उसका शुद्ध रूप विकसित किया जा सकता है। वह सत्पुरुषार्थ विविध रूपों में विविध प्रकार से किया जा सकता है। अभयदान के द्वारा भी कर्मों का मलीमष रूप आत्मा से हटाया जा सकता है।

बाह्य मल क्या है?

मल शब्द अनेक अर्थों में लिया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से मल का अर्थ कीचड़ एवं अशुचि आदि निम्न तत्त्वों से लिया जाता है। ज्ञानीजन जैसे शरीर की अशुचि को मल समझते हैं वैसे ही आत्मा पर लगे हुए कर्मों को भी मल समझते हैं। अशुभ कर्म आत्मा की पवित्र सुगन्ध को भी दुर्गन्धित कर देते हैं। (यह एक उपमा है) जिस प्रकार बाहर का मल जब सड़ने लगता है तो वह आस-पास के वायुमण्डल को भी दूषित बना देता है। इस दुर्गन्धित वायुमण्डल में बिखरे जर्मस (कीटाणु) स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद सिद्ध होते हैं। मानव के स्वयं के शरीर में भी अशुचि आदि के रूप में कई तरह के दुर्गन्धित कीटाणु भरे पड़े रहते हैं। यदि कुछ दिनों के लिये मानव अशुचि-विसर्जन बंद कर दे तो उसके शरीर में भयानक रोग पैदा हो सकते हैं। वे रोग उसके जीवन का अन्त करने वाले भी बन सकते हैं। अतः यथासमय मल विसर्जन भी आवश्यक है।

नगर के वायुमण्डल को स्वच्छ रखने के लिये नगर निगम बनाया जाता है। नगर निगम के सदस्यगण वायुमण्डल की स्वच्छता का ध्यान रखते हैं। यह सब पद्धति बाह्य वायुमण्डल को स्वच्छ रखने के लिये अपनाई जाती है। आज का प्रबुद्ध वर्ग स्वस्थता के लिये बाह्य स्वच्छता की अनिवार्यता भली-भाँति जानता है।

आन्तरिक मल क्या है?

आन्तरिक स्वच्छता के लिये बाहरी वायुमण्डल की स्वच्छता का होना भी आवश्यक है। बाहरी वायुमण्डल का प्रभाव भी साधक पर पड़े बिना नहीं रहता। आगमों में भी जहां तीर्थकर भगवंत आदि महापुरुषों के विचरण का वर्णन आता है तो वहां निवास स्थल प्रायः बगीचों में ही बतलाया गया है। राजगृह में भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ तो वे गुणशील बगीचे में

पधारे। इसी प्रकार जिस किसी भी नगर में उनका पदार्पण हुआ उनके विराजने का स्थल प्रायः बगीचों में ही रहा। वायुमण्डल की स्वच्छता, स्वास्थ्य की स्वस्थता में भी सहायक बनती है। स्वास्थ्य की स्वस्थता आत्मिक साधना में सहायक बनती है।

आजकल देश का वातावरण बहुत दूषित बनता जा रहा है। यह दूषितावस्था दो प्रकार से बढ़ती जा रही है— जनसंख्या की निरन्तर अभिवृद्धि तथा देश की व्यवस्था समुचित नहीं होने से, विलासी वातावरण भी वायुमण्डल को दूषित बना रहा है। नशीले पदार्थों का व्यसनी बन कर मानव धूम्रपान आदि से भी वायुमण्डल को दूषित कर रहा है। यही नहीं, दुश्चिन्ताओं से भी वायुमण्डल दूषित होता है। मन में उठे राग—द्वेष रूप संकल्प—विकल्पों का प्रभाव श्वास के माध्यम से वायुमण्डल को दूषित करता है। इस दूषित वातावरण से प्रायः मानव किसी न किसी रोग से ग्रस्त बना हुआ है। अन्यान्य कारणों के साथ यह रुग्णता भी उसकी आत्म—साधना में बाधक बन रही है।

स्वच्छता विदेशों में

ऐसा सुनने एवं पढ़ने को मिलता है कि विदेशों में स्वच्छता के लिये पूरा—पूरा ध्यान रखा जाता है। वहाँ के नागरिक भी स्वच्छता के लिये विशेष जागरूक हैं। यह स्वच्छता उनकी सभ्यता का एक अंग बन गई है। इसके कुछ उदाहरण भी सुनने को मिलते हैं— एक बार कोई व्यक्ति बस में बैठा धूम्रपान कर रहा था तो समीप बैठे व्यक्ति ने उसे निषेध किया तथा समझाया कि तुम्हारे धूम्रपान करने से वायुमण्डल दूषित हो रहा है और वह दूषित वायुमण्डल श्वास के माध्यम से हमारा स्वास्थ्य खराब करता है। किन्तु उस व्यक्ति ने समीपस्थ व्यक्ति की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और मस्ती से धूम्रपान करता रहा। कुछ ही समय के बाद जब वही व्यक्ति गिलास में पानी लेकर पीने लगा तो समीपस्थ व्यक्ति ने यह सुन्दर अवसर देखकर उसकी गिलास में अपना हाथ डालकर उसका पानी गंदा कर दिया। यह देखकर वह चिल्ला उठा— तुम यह क्या कर रहे हो, मेरा सारा पानी डर्टी (गन्दा) कर दिया, अब मैं इसे कैसे पीऊंगा? तब समीपस्थ व्यक्ति ने उसे समझाया— तुम्हें हमारे ऑक्सीजन को गंदा करने का क्या अधिकार था। मना करने पर भी तुमने धूम्रपान करना बंद नहीं किया और सारा वायुमण्डल दूषित कर दिया तो मैंने भी तुम्हारा पानी गंदा कर दिया। उस व्यक्ति की बात को सुनकर

सामने वाला व्यक्ति स्तब्ध रह गया। बस में स्थित सभी लोग उसकी बात का समर्थन करने लगे।

आँखों देखा हाल

विदेशी लोगों की स्वच्छता का एक नमूना मैंने साक्षात् भी देखा— जब भीनासर (बीकानेर) में स्व. आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. स्थविरावास कर रहे थे, उनके किसी रोग का निदान करने के लिये एक विदेशी (फोरेनर) डाक्टर (जो कि भारत में आया हुआ था) वहाँ पहुँचे। जब आचार्यदेव के स्वास्थ्य का निदान कर रहे थे, उस समय उसके नाक में श्लेष्म आ गया था। मैंने देखा— डाक्टर सा. ने तुरन्त श्लेष्म को रुमाल में लिया और अपने कोट की जेब में डाल लिया। मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि इन लोगों में कितनी सभ्यता है। श्लेष्म को इधर—उधर डालकर गंदगी नहीं फैलाई।

इस घटनाक्रम को देखकर आश्चर्य होता है कि जिन देशों को नास्तिक समझा जाता है, जो धार्मिकता की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं, उनमें भी इतनी सभ्यता है और भारत, जिसको धार्मिकता की दृष्टि से प्रधान समझा जाता है, संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से जिसका इतिहास भरा पड़ा है, वहाँ आज के भारतीय लोग सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। नाक का श्लेष्म होगा तो फट निकाल कर इधर—उधर डाल देंगे। यहाँ तक कि धर्म—स्थान का भी खयाल नहीं रखा जाता, भीतों पर इधर—उधर डाल दिया जाता है। पान खायेंगे तो इधर—उधर थूकते रहेंगे। कहाँ है सभ्यता?

छोटी—छोटी बातों में जब तक सभ्यता की स्थिति नहीं आएगी, व्यसनमुक्ति रूप स्वच्छता नहीं अपनाई जाएगी, तब तक आन्तरिक कर्म—मल से आत्मा को स्वच्छ कैसे बनाया जा सकता है?

स्वच्छता का परम प्रतीक—साधु जीवन

आत्म साधना के परम प्रतीक साधु जीवन में स्वच्छता के लिये स्वयं प्रभु महावीर ने विवेक बतलाया है। जैसे कि नाक में श्लेष्म आ जाय तो साधक इधर—उधर न डाले किन्तु उसे कपड़े में लेकर मसल कर सुखा दे जिससे गंदगी न फैले। उसमें गिरकर जीव हिंसा न हो। साथ ही, श्लेष्म में समुच्छिर्म जीवों के उत्पन्न होने की स्थिति भी न बने। यद्यपि शास्त्रकारों ने जितना बाह्य स्वच्छता पर बल नहीं दिया उतना आन्तरिक स्वच्छता पर बल दिया है।

बाहरी शुद्धि से तात्पर्य व्यसनमुक्ति रूप स्वच्छता, सभ्यता एवं सदाशयता से है। इस प्रकार बाह्य रूप से स्वच्छता आने पर आन्तरिक कर्म-मल प्रक्षालित करने में आत्मा को बहुत बड़ा संबल मिलता है।

शीतल जिनपति ने आत्म साधना द्वारा कर्म-मल का प्रक्षालन कर निज स्वरूप अभिव्यक्त किया था। इसीलिये कवि ने कहा है-

वह्क; nku rsey{k; d#.kkA

अर्थात् भगवान के करुणा गुण की अभिव्यक्ति अभयदान के साथ कर्म-मल क्षय के रूप में अभिव्यक्त हुई थी।

करुणा से परम लक्ष्य की प्राप्ति

जब आत्मा संसार के समस्त प्राणियों के प्रति करुणावंत बन जाती है, उसकी हर वृत्ति-प्रवृत्ति आत्मीयता से ओत-प्रोत हो जाती है, तब अनादिकाल से संबद्ध कर्म-मल आत्मा से विलग होने लगते हैं। आत्मा का सुविशुद्ध रूप विकसित होने लगता है। जब आत्मा से घातिक कर्म-मल प्रक्षालित-क्षपित हो जाते हैं, तब आत्मा का अनन्त चतुष्टय रूप अभिव्यक्त हो जाता है। और जब अघातिक कर्म क्षपित हो जाते हैं तब आत्मा का अखिल स्वरूप सदा-सदा के लिये अभिव्यक्त हो जाता है।

शीतल जिनपति के करुणा गुण की व्याख्या को लक्ष्य में रखते हुए भव्य आत्माएं यदि कर्म-मल की क्षपणा के लिये बाह्य आचार-व्यवहार की शुद्धि के साथ-साथ आन्तरिक कर्म-मल को क्षपित करने का प्रयास करेंगी तो एक न एक दिन मुक्ति का वरण कर सकेंगी।



पुद्गलानन्दी नहीं, आत्मानन्दी बनो

- समीक्षण शक्ति की अभिव्यक्ति का अवरोधक : कर्म
- उदासीनता बनाम समीक्षण
- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्
- पौद्गलिक परिवर्तन
- पुद्गलानन्द शाश्वत नहीं
- पुद्गलानन्द का परिणाम
- आत्माभिमुख बनो
- दुर्गंध भरा परिखोदक
- परस्पर चर्चा-विचर्चा
- सम्राट् का रोष
- अमनोज्ञ का मनोज्ञ में परिवर्तन
- श्रावक के सम्पर्क से परिवर्तन सम्राट् में
- त्रिविध उदासीनता

^mRi kn-0; ; /kQ; ; Qral rA**

—तत्त्वार्थ सूत्र 5/29

संसार के समस्त सत् पदार्थ उत्पत्ति, विनाश शक्ति होने के साथ ही ध्रुवत्व स्वभाव वाले हैं। जड़ एवं चैतन्य पर्यायों की अपेक्षा उत्पन्न—नष्ट होते रहते हैं। किन्तु जड़त्व एवं चैतन्यत्व की अपेक्षा ध्रुव हैं। उनका मौलिक स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता।

पुद्गलों में दृश्यमान मनोज्ञता, कमनीयता, रमणीयता, आकर्षकता पुद्गलों के ही परिवर्तन से अमनोज्ञ, अकमनीय, अरमणीय, अनाकर्षण में परिवर्तित हो जाती है।

बचपन का सुन्दर रूप यौवनत्व में और यौवनत्व वृद्धत्व में जरा—जीर्ण होता हुआ नष्ट हो जाता है। परिवर्तन के इस ध्रुव सिद्धान्त को परिवर्तित करने का सामर्थ्य संसार के किसी भी व्यक्ति में नहीं है।

साधक को स्वात्म बोध के साथ समीक्षणपूर्वक पुद्गलों के परिवर्तन को समझते हुए अमरत्व रूप, अनन्त सुख को प्राप्त करने के लिये प्रयास करना चाहिये।



शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी

विविध भंगी मन मोहे रे

करुणा कोमलता तीक्षणता

उदासीनता सोहे रे।।

दृश्यभूत विराट के पीछे एक अदभुत शक्ति संचरण कर रही है। जिस शक्ति के द्वारा ही विश्व का विचित्र रूप परिवर्तित होता है। वह अदभुत शक्ति है, आत्मा। दृश्यभूत पदार्थ रूपी जड़ है किन्तु इन पदार्थों के भीतर काम करने वाली शक्ति मौलिक रूप से अदृश्य एवं अरूपी है। जड़ और चैतन्य के सम्मिश्रण का ही प्रभाव विश्व का विचित्र रूप है। चेतना अपनी समीक्षण अन्तःप्रज्ञा को जगा कर जड़त्व से विलग हो सकती है। जो तत्त्व चर्मचक्षुओं से दृष्ट हैं, उन स्थूल तत्त्वों के अतिरिक्त भी संसार में अनेकों सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व विद्यमान हैं। जिन तत्त्वों का अवलोकन चर्मचक्षुओं से नहीं किया जा सकता है, उनके लिए विशेष प्रज्ञा—समीक्षण प्रज्ञा की आवश्यकता है। वह विशेष प्रज्ञा बिना आत्म—जागरण के प्रस्फुटित नहीं हो सकती। तीर्थकर भगवंतों के पास वह विशेष प्रज्ञा चरम सीमा को पहुँची हुई होती है। जिससे वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को भी स्पष्ट रूप से जानने में समर्थ हो जाते हैं। उनके प्रज्ञा लोक से विश्व की कोई भी वस्तु अदृष्ट नहीं रहती। समीक्षण प्रज्ञा संसार के सभी जीवों के पास भी सत्ता रूप में विद्यमान है। किन्तु उसके ऊपर कर्मों का आवरण आया हुआ है। कर्माच्छादित वह प्रज्ञा अपने यथातथ्य स्वरूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाने के कारण सकल जगवर्ती पदार्थों का अवबोध नहीं कर पाती।

समीक्षण शक्ति की अभिव्यक्ति का अवरोधक : कर्म

गगनांगन में भ्रमणशील भास्कर, जब मेघाच्छादित हो जाता है तब उसी की शक्ति मेघों से आवृत हो जाती है। फलस्वरूप सूर्य का प्रकाश संकुचित हो जाता है। यह संकुचितता तभी तक रह पाती है, जब तक मेघों का आवरण बना रहता है। जब वायु संचरण से मेघावरण हट जाता है तब वही सूर्य यथावत् अपने प्रकाश का प्रसार करने लग जाता है। ठीक इसी प्रकार संसार की परिणति में विद्यमान समस्त आत्माएं कर्मों से आच्छादित हैं। वह समीक्षण प्रज्ञा, जो कि आत्माओं में सत्ता रूप से विद्यमान हैं। किन्तु कर्माच्छादित होने से जगत के समस्त वस्तु स्तोम को जानने में सक्षम नहीं

बन पाती लेकिन तीर्थकर देवों ने तत् सम्बन्धित कर्म क्षपित कर डाले हैं। उनकी समीक्षण की विलक्षण प्रज्ञा, केवलज्ञान की शक्ति अभिव्यक्त हो चुकी है अतः उनके सकल वस्तु विज्ञान में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

उदासीनता ब्रह्म समीक्षण

विलक्षण प्रज्ञासम्पन्न शीतल जिनपति का तीसरा गुण उदासीनता का बतलाया है। जैसा कि कवि ने कहा है—

gkuknku jfgr i fj .kkehA
mnkl hurk fo{k.k jAA

अर्थात् हे भगवन्! आप इष्ट या अनिष्ट वस्तु के राग-द्वेष से रहित हैं, संसार के समस्त पदार्थों के प्रति आपकी उदासीनता-समभाव है।

समस्त विश्व की सर्जना मुख्यतया दो तत्त्वों से हुई है— जड़ और चैतन्य। जड़-चेतन का संयोग ही विश्व में विलक्षण विशेषता उपस्थित करता है। जड़ पदार्थ के संयोग से कभी मनोज्ञ वस्तु का निर्माण हो जाता है तो कभी अमनोज्ञ वस्तु का। संसारी आत्माओं में भी यथाबद्ध कर्म के अनुसार इष्ट-अनिष्ट अवस्थाएं पाई जाती हैं। ये सब पुद्गलों के संयोग का ही परिणाम हैं। जिनके संयोग से मनोज्ञ वस्तु अमनोज्ञ के रूप में, अमनोज्ञ वस्तु मनोज्ञ के रूप में परिवर्तित हो जाती है। मनोज्ञता या अमनोज्ञता से बने राग या द्वेष के परिणाम कर्मबन्धन कराने वाले बनते हैं, किन्तु जब चेतना पुद्गलों के संयोग को समझकर उनके प्रति उदासीन तथा सम्यक् प्रकार से देखने की शक्ति प्राप्त कर लेती है तो राग द्वेष के परिणामों से होने वाले कर्म-बन्धन से बच जाती है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्

संसार की हर वस्तु परिवर्तनशील है। हर पल, हर क्षण पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है। वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में स्पष्ट निर्देश दिया है— 'उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'। संसार का प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न-विनष्टशील होते हुए भी स्व-स्वभाव की अपेक्षा ध्रुव है।

उत्पन्न-विनाश के साथ ध्रुवत्व के रूप में पदार्थ किस प्रकार विद्यमान रहता है— इसका विज्ञान एक स्थूल रूपक के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

एक राजा के एक राजकुमार एवं एक राजकुमारी थी। राजकुमार स्वर्ण कुण्डल को तुड़वा कर स्वर्ण मुकुट बनाना चाहता था, लेकिन राजकुमारी स्वर्ण कुण्डल को उसी रूप में रखना चाहती थी। इन दोनों के विचारों से निरपेक्ष सम्राट् मध्यस्थ थे। क्योंकि वे सोच रहे थे कि स्वर्ण कुण्डल से स्वर्ण मुकुट बनाया जाय या उसे स्वर्ण कुण्डल के रूप में ही रखा जाय, दोनों में स्वर्ण तो विद्यमान रहेगा ही। उसमें कोई क्षति होने वाली नहीं है। ठीक इसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुएं परिवर्तनशील हैं, हर क्षण प्राचीन पुद्गल परिवर्तित हो जाते हैं और नवीन पुद्गल सम्बन्धी होते जाते हैं। इतना होते हुए भी वस्तु के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार एक काष्ठ पट है। उस पर से हर क्षण पुद्गल परमाणु निकलते जाते हैं और दूसरे परमाणु पट्ट से संयोजित होते जाते हैं। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। किन्तु इस क्रम की विज्ञप्ति तब होती है, जब काष्ठ-पट्ट जर्जरित हो जाता है।

इसी प्रकार देह पिण्ड में भी उत्पाद-व्यय चलता रहता है। पुराने परमाणुओं का विसर्जन एवं नये परमाणुओं का सर्जन होता रहता है। वृद्धावस्था तत्क्षण नहीं आती, किन्तु निरन्तर पौद्गलिक परमाणुओं के परिवर्तन से आती है। यह परिवर्तन शीघ्रता से बोधगम्य नहीं होने से मानव वस्तु का यथार्थ बोध नहीं कर पाता।

पौद्गलिक परिवर्तन

पुद्गलों का परिवर्तन सशक्त से सशक्त पदार्थ को भी जीर्ण-शीर्ण कर डालता है। आपने वज्ररत्न का नाम सुना होगा। वह इतना सशक्त होता है कि उसके ऊपर कितने ही मन लोहा डाल दिया जाय, किन्तु उसका एक नोक तक नहीं टूटता। ऐसे वज्ररत्न में भी हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन पुद्गल परमाणु हटते जाते हैं, नये परमाणु संयोजित होते जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। समय के परिपाक से वह वज्ररत्न भी इतना जीर्ण हो जाता है कि एक पांच वर्ष का बालक भी उसे हाथ में लेकर मिट्टी के ढेले की तरह मसल सकता है।

कोई भी वस्तु सदा-सर्वदा के लिए उत्पाद-व्यय से रहित मात्र ध्रौव्यत्व रूप में रहने वाली नहीं है। जड़ पदार्थ में उत्पाद-व्यय होते हुए भी वे जड़त्व की अपेक्षा ध्रुव होते हैं। कितना भी परिवर्तन हो जाय किन्तु जड़ कभी चैतन्य नहीं होता। इसी प्रकार चैतन्य भी उत्पाद-व्यय स्वभाव वाला

होते हुए भी चैतन्यत्व की अपेक्षा ध्रुव है। जड़त्व की अपेक्षा चैतन्यत्व में अनिर्वचनीय अवस्थाएं पाई जाती हैं। जड़ को सदद्रव्य के रूप में कहा जा सकता है पर चैतन्यत्व में सत् के साथ-साथ ज्ञान एवं वास्तविक आनन्द की अवस्थाएं भी रही हुई हैं। संक्षेप में जड़ और चैतन्य में यह मौलिक अन्तर है।

पुद्गलों के परिवर्तन से मृदु शब्द भी कठोर और कठोर शब्द भी मृदु हो जाता है। पुद्गलों के परिवर्तन से ही रूपवान कुरूप और कुरूप रूपवान बन जाता है। पुद्गलों के परिवर्तन से ही खट्टा रस मीठा व मीठा खट्टा बन जाता है। पुद्गलों का परिवर्तन ही सुगन्ध से दुर्गन्ध के रूप में और दुर्गन्ध को सुगन्ध के रूप में बदल सकता है। पुद्गलों का परिवर्तन ही खुरदरे स्पर्श को सुहावना और सुहावने स्पर्श को खुरदरा बना सकता है। पौद्गलिक परिवर्तन ही संसार की विविध विचित्रता का मूल हेतु है। पुद्गलों पर आसक्त होकर आनन्द मनाने वाला व्यक्ति कभी भी शाश्वत सुख की अनुभूति नहीं कर सकता।

पुद्गलानन्द शाश्वत नहीं

पुद्गलानन्दी कोई भी आत्मा शाश्वत ज्ञान की उपलब्धि नहीं कर सकती। क्योंकि पुद्गलों में वह शाश्वत तत्त्व नहीं, जिससे वे शाश्वत सुखदायी बन सकें। यथार्थ में तो पुद्गल सुख रूप हैं ही नहीं। जो मिष्टान्न सुख देने वाला माना जाता है। उसी का अधिकाधिक आहार करने पर वही दुःखदायी बन जाता है। यही स्थिति अन्य पौद्गलिक वस्तुओं की भी है। सुख रूप दिखने वाले पुद्गल वास्तव में सुख रूप नहीं होकर सुखाभास के रूप में हैं। अतः भव्य आत्मा पुद्गलानन्दी न बनकर आत्मानन्दी बनने का प्रयास करें। आत्मानन्द वह आनन्द है, जो सदा-सर्वदा के लिए परम आनन्द प्रदान करने वाला है, जिस आनन्द की अभिव्यक्ति होने पर आत्मा कभी भी दुःख रूप स्थिति में नहीं आ सकती। आत्मानन्द को पाने के लिए आवश्यकता है आत्माभिमुख बनने की, समीक्षण प्रज्ञा को उजागर करने की।

i n x y k u l n d k i f j . k e

आत्माभिमुख आत्मा पौद्गलिक सुखों में कभी भी आनन्द का अनुभव नहीं करती। वह तो पौद्गलिक आवर्त में रहकर भी उससे निरपेक्ष रहती है। मनोज्ञ वस्तुओं पर राग भाव व अमनोज्ञ वस्तुओं पर द्वेषभाव उत्पन्न नहीं होने देती। पौद्गलिक वस्तुओं से उत्पन्न राग-द्वेष की परिणति आत्मा

को जन्म-मरण के संसार में भटकाने वाली बनाती है। नन्दन मनिहार ने अपने द्वारा निर्मित पुष्करणी पर आसक्ति रखी थी। उसके मन में सदा यह विचार रहता था कि मेरी पुष्करणी बहुत अच्छी है, बहुत सुन्दर है। इस आसक्ति का यह परिणाम आया कि नन्दन मनिहार का जीव मानव शरीर को छोड़कर उसी पुष्करणी में मेंढक के रूप में उत्पन्न हो गया। मनुष्य योनि से तिर्यच योनि में चला गया। यह पुद्गलानन्दी बनने का परिणाम था।

आत्माभिमुख बनो

जो साधक पुद्गलासक्ति से निरपेक्ष हो समीक्षण की साधना में तन्मय बन जाता है, वह आत्मोत्कर्ष की दिशा में प्रगतिशील बन जाता है। जब कृष्ण महाराज अपने दलबल के साथ किसी मार्ग को पार कर रहे थे उस समय रास्ते में एक मरी हुई कुतिया पड़ी थी, जिसकी भयानक दुर्गन्ध दूर-दूर तक फैल रही थी। कृष्ण महाराज के आगे चलने वाले सभी अनुचर, अश्वारोही आदि उस दुर्गन्ध से घृणा करते हुए नाक पर पट्टी बांधकर आगे बढ़ रहे थे। जब उसी कुतिया के निकट से कृष्ण महाराज की सवारी निकली तो आश्चर्य कि कृष्ण महाराज को न तो दुर्गन्ध से घृणा हुई और न अपने नाक पर पट्टी ही बांधी। उनकी दृष्टि तो कुतिया की दंतपंक्ति पर जा टिकी थी। कृष्ण महाराज बोले- देखो इस कुतिया की दंतपंक्ति कितनी क्रमबद्ध और स्वच्छ है। यह है सम्यक् दृष्टि आत्मा का विचार। स्वात्माभिमुख साधक यह जान लेता है कि यह मनोज्ञता या अमनोज्ञता पुद्गल के परिणाम से है। इस पर राग-द्वेष कर कर्म बन्धन नहीं करना चाहिये। पुद्गलों के परिवर्तन को सुस्पष्ट तरीके से समझने के लिए मैं आपके समक्ष एक आगमिक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र के बारहवें अध्याय में सुबुद्धि प्रधान और जितशत्रु राजा का उदाहरण आता है जिससे पौद्गलिक परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है।

दुर्गन्ध भरा परिखोदक

‘तेणं कालेणं तेणं समएणं’ उस काल, उस समय में चम्पा नामक सुरम्य नगरी के राजा जितशत्रु और प्रधान अमात्य सुबुद्धि थे। जितशत्रु सम्राट की धर्म के प्रति रुचि कम थी। किन्तु सुबुद्धि प्रधान जीवा-जीव के विज्ञाता तथा बारह व्रतधारी श्रमणोपासक थे। दोनों में धार्मिक भिन्नता होते हुए भी परस्पर किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं था। शत्रुओं का नगर में प्रवेश

नहीं हो सके, तदर्थ दुर्ग के बाहर चारों ओर विशाल खायी थी जिसका पानी चर्बी, मांस, पीब के समूह से मिश्रित था। कुत्ते, मार्जार आदि मृत कलेवरों से संयुक्त था। गंध, रस, स्पर्श आदि से वह अत्यधिक विकृत बना हुआ था। उस पानी को 'परिहोदए' परिखोदक के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

परस्पर चर्चा-विवर्ष

किसी समय सम्राट स्नानादि कार्यों से निवृत्त हो सर्वालंकारों से विभूषित होकर जब भोजन करने के लिए रमणीय आसन पर बैठे थे, तब उनके साथ अन्य अनेक राजेश्वर, अमात्य, सार्थवाह आदि भी उपस्थित थे। सभी ने सुस्वादित असणं-पाणं, खाइमं, साइमं चारों प्रकार का आहार किया। भोजनोपरान्त सम्राट ने उपस्थित व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहा— 'अहोणं देवाणुपिया इमे मणुण्णे असणं पाणं, खाइमं, साइमं, वण्णणं उववेए जाव कासेणं उववेय अस्सायणिज्जे, शिस्सोयाणिज्जे, पीयविज्जे, दीवणिज्जे, दप्पाणिज्जे, मर्याणज्जे, विहणिज्जे, सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे।'

हे देवानुप्रियो, यह तृप्तिकारक अशनादि शुभ वर्णादि से युक्त है। आस्वादनीय है, स्वादनीय है। समस्त इन्द्रियों को तृप्ति देने वाला है। जठराग्नि का उद्दीपक, बलवर्धक आदि अनेक विशेषताओं से सम्पन्न है।

सम्राट की बातों को सुनकर उपस्थित अनेक व्यक्तियों ने कहा— स्वामिन्! जैसा आप फरमाते हैं, अशनादिक उसी प्रकार का है। अपनी बात का समर्थन सुनकर प्रधान अमात्य से भी सम्राट ने यही बात कही किन्तु सुबुद्धि प्रधान ने अन्यों की तरह सम्राट की बात का समर्थन नहीं किया, प्रत्युत् मौन रहे। सम्राट के द्वारा दो बार, तीन बार अपनी बात के दोहराने पर सुबुद्धि ने कहा— राजन्! मुझे इस प्रकार के अशनादिक से किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है। क्योंकि राजन् सुब्धि सद्वणि पुग्गला दुब्धि सद्वलाए परिणमंति दुब्धि सद्ववि पोग्गला सुब्धि सद्वलाए परिणमंति। शुभ शब्द रूप पुद्गल और अशुभ शब्द रूप पुद्गल परस्पर परिणमित हो जाते हैं। इसी प्रकार गन्ध, रस—स्पर्श में भी परिणमन होता रहता है। यह परिणमन प्रायोगिक और नैसर्गिक दोनों प्रकार से होता है।

सम्राट का रोष

सुबुद्धि प्रधान की इस विवेकपूर्ण बात को सुनकर सम्राट तुष्ट नहीं हुआ किन्तु बात आगे न बढ़े इस दृष्टिकोण से मौन रहा। कुछ दिवसान्तर में

जब अश्व क्रीड़ा के लिए अपने सुभटों के साथ नगर से बाहर निकले तब बाहर परिखोदक से भयंकर दुर्गन्ध फूट रही थी। सम्राट सहित प्रायः सभी सुभट उस भयंकर दुर्गन्ध से अभिभूत होकर नासिका पर दुपट्टा लगाकर शीघ्रता से खाई पथ को पार करने लगे। चलते हुए सम्राट ने कहा कि यह दुर्गन्ध अधिकतर 'इमे फरिहोय अमणुण्णो' इस परिखोदक से आ रही है। सम्राट की बात का प्रायः सभी ने समर्थन किया किन्तु सुबुद्धि प्रधान मौन थे। सम्राट ने जब उनसे भी एतद् विषयक प्रतिक्रिया करने के लिए बहुत आग्रह किया, तब प्रधान समदृष्टि भाव से उदासीनता पूर्वक बोले—

राजन्! अहं एयंसि परिहोगगंति केई पिम्हए एवं। खलुसामी, सुब्धि सद्ववि पोग्गला दुब्धि सद्वलाए परिणमती दुब्धि सद्ववि पोग्गला सुब्धिताए।

राजन्! इस दुर्गन्ध से मुझे कोई आश्चर्य नहीं है। यह तो पुद्गलों के परिवर्तन की विचित्रता का ही परिणाम है। सज्जनो! जीवाजीव के विज्ञाता श्रावक किसी के दबाव से सत्य तथ्य छिपाकर कभी भी अन्य को खुश करने के लिए असत्य का समर्थन नहीं करते। सुबुद्धि श्रावक ऐसा ही श्रावक था। जिसने ऐसी विकट परिस्थितियों में भी किसी प्रकार की परवाह नहीं करके सत्य तथ्य को सम्राट के समक्ष रख ही दिया। किन्तु इस बार सम्राट आक्रोश में आ गए और सुबुद्धि प्रधान से बोले— हे देवानुप्रियो! अविद्यमान तत्त्वों के प्रतिपादन से तथा मिथ्याभिनिवेश से इस तरह की प्ररूपणा मत करो। इस प्रकार की झूठी प्ररूपणाओं द्वारा अपने को एवं दूसरों को भ्रमित मत करो।

अमनीज्ञ का मनीज्ञ में परिवर्तन

सम्राट के आक्रोशपूर्ण शब्दों को सुनकर के भी सुबुद्धि प्रधान के मन में किसी प्रकार का अन्यथा विचार नहीं आया। वे अपने सत्य पर अविचल बने रहे। साथ ही, मन में स्फुटित हुआ— सम्राट् को जब तक पुद्गलों के परिवर्तन का प्रत्यक्षीकरण नहीं होगा, तब तक वे इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे। यह सोचकर सुबुद्धि प्रधान ने गुप्त रूप से परिखोदक को अर्थात् दुर्गन्ध पूर्ण कुछ पानी घड़ों में भरवाया और सात दिन—रात तक उसी प्रकार रखकर पुनः दूसरे घड़ों में वही पानी भरवाया। इस बार उसे फिल्टर करने के लिए 'साजी' क्षार पदार्थ भी डलवा दिया और त्वाक्षातिक से मुहर लगवा दी। सात दिन—रात उस पानी को उस प्रकार रखने के बाद पुनः नये घड़ों में उस पानी

को भरवाया। यही प्रक्रिया सात बार की गयी। इस प्रकार की प्रक्रिया से पानी बहुत स्वच्छ, मधुर एवं आरोग्यप्रद बन गया। उसे और अधिक मधुर एवं सुगन्धित बनाने के लिए केतकी, गुलाब आदि पुष्पों से संस्कारित किया। जब वह उदकरत्न अत्यधिक मधुर एवं सुगन्धपूर्ण बन गया तब सुबुद्धि प्रधान ने उस पानी को राजा जितशत्रु को पिलाने के लिए भृत्य को सौंप दिया। सम्राट् जितशत्रु उस पानी को पीकर बहुत प्रसन्न हुए और उदकरत्न की प्रशंसा करते हुए भृत्य को इसकी उपलब्धि के विषय में पूछने लगे तब भृत्य ने बताया कि यह पानी सुबुद्धि प्रधान के यहां से लाया गया है।

श्रावक के सम्पर्क से परिवर्तन सम्राट् में

तत्क्षण सम्राट् ने सुबुद्धि प्रधान को बुलाकर कहा— अहो, तुम्हारे यहां इतना मधुर उदकरत्न होते हुये भी तुमने मुझे नहीं पिलाया। क्या कारण है कि मैं तुम्हारा अप्रिय बना हुआ हूँ? प्रधान ने कहा— राजन्! यह उसी परिखोदक का पानी है। सम्राट् को आश्चर्य हुआ कि इतना दुर्गन्धपूर्ण पानी ऐसा मधुर, सुस्वादनीय कैसे बन गया? सुबुद्धि प्रधान ने कहा— राजन्! मैंने आपको पहले ही निवेदन किया था कि पुद्गलों के परिवर्तन से अशुभ भी शुभ में परिवर्तित हो जाता है। इतने पर भी जब सम्राट् को विश्वास नहीं हुआ कि यह पानी परिखोदक का ही है तब सुबुद्धि प्रधान ने पानी को शुद्ध करने की सारी प्रक्रियाएं सम्राट् के सामने प्रत्यक्ष कीं। इस प्रत्यक्षीकरण से सम्राट् को आश्चर्य हुआ, साथ ही जिज्ञासा भी कि सुबुद्धि प्रधान ने ऐसा विशिष्ट ज्ञान कहाँ से प्राप्त कर लिया। जिज्ञासा का समाधान किया सुबुद्धि प्रधान ने, राजन् मारसंताजाव सव्यूयाभाव जिण वयणाओ उपलब्धा।

मुझे ऐसा सद्भूत भाव रूप विशिष्ट ज्ञान जिन-वचनों से प्राप्त हुआ है। इससे सम्राट् का भी धर्म की ओर आकर्षण हुआ और उसने सुबुद्धि प्रधान से जीवाजीव का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही “सुबुद्धिस्स अभयस्य अंतिए पंचाणु बयाई जाव ढुवालसविहं सावय धम्मं पडिवज्जइ” सुबुद्धि प्रधान से पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत— ये बारह व्रत अंगीकार किये। इस प्रकार सम्राट् पुद्गलों के स्वरूप को समझकर उसी की आसक्ति से टले हुए आत्माभिमुख बनने लगे।

त्रिविध उदासीनता

भव्यात्माओ! रूपक तो और भी लम्बा है किन्तु इस रूपक से

पुद्गलों के परिवर्तन की अवस्था स्पष्ट रूप से जानी जाती है। अतः पुद्गलों की शुभाशुभता पर राग-द्वेष की भावना उत्पन्न नहीं करनी चाहिये। पुद्गलानंदी आत्मा कभी भी वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकती। एतदर्थ शीलनाथ भगवान पुद्गलों के प्रति उदासीन थे। उन्हें न तो शुभ पुद्गलों पर आसक्ति थी और न ही अशुभ पुद्गलों पर द्वेष, इसलिये कवि ने कहा—

gkuknku jfgr i fj .kkeh mnkl hurk oh{k.k jA

इस उदासीनता की दूसरी व्याख्या करते हुए कवि ने कहा है “उदासीनता उभय विचक्षण।”

संसारी जीवों के शुभाशुभ परिणामों को अपने विशिष्ट ज्ञानालोक में देखते हुये भगवान तटस्थ थे। इसी प्रकार कवि ने तीसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है ‘प्रेरक विनकृति उदासीनता’। कोई निन्दा करे या प्रशंसा। अच्छा कहे या बुरा। भगवान सभी ओर से निरपेक्ष होकर सहज रूप से आत्म-परिणति रूप कृति-कर्तव्य में निष्ठावान थे। वे बिना प्रेरणा से स्वरूप रमण में तन्मय रहते थे।

अतः साधक को ‘वैरं वड्ढइ’ अर्थात् भव परम्परा रूप अविच्छिन्न वैर को बढ़ाने वाले भौतिक पुद्गलों में आसक्ति नहीं होना चाहिए। जो साधक जिन पुद्गलों से सुख की आशा रखता है, वास्तव में वे सुख देने वाले नहीं हैं। भगवान ने स्पष्ट कहा है ‘जेण सिया भण नोसिया’ अतः अनन्त आनन्द रूप में रमण करने के इच्छुक साधक को पुद्गलानंदी न बनकर आत्मानंदी बनना चाहिये।

जब साधक अन्तः में पैठ करेगा, अन्तः का समीक्षण करने लगेगा तो एक दिन निश्चित ही आत्मानंद में भी रमण करने लग जाएगा।



7

मानव जीवन और क्रियावती शक्ति

- चकडोलर और संसार
- गुणगान के साथ आचरण भी
- तीर्थकर भी मानव हैं
- उदासीनता—निष्क्रियता नहीं है
- सिद्धात्मा भी निष्क्रिय नहीं हैं
- श्रावक तीर्थकर नहीं बनते
- आप भी अनन्त सत्त्वसम्पन्न हैं
- रत्न परीक्षक—पहला जौहरी
- पहले जैसा दूसरा
- दूसरे जैसा तीसरा
- चौथा सबसे विलक्षण
- हानि में मैं नहीं, तुम रहे
- वास्तव में हानि में कौन?

१mfVB, uksiek; , *

—आचारांग सूत्र 1/5/2

उठिये, जागें, प्रमाद करने का समय नहीं है। देव दुर्लभ मानव तन के अमूल्य क्षण बीतते जा रहे हैं। जो भी क्षण बीत चुका है, लाख प्रयास करने पर भी पुनः नहीं आने वाला है।

tk tk oPpb] j; .kh u l k i fMfu; ūkbA

जो—जो रात्रियां बीत चुकी हैं, वे कभी भी पुनः नहीं आने वाली हैं। आयुष्य के बीते एक क्षण को भी संसार की कोई भी शक्ति पुनः लाने में समर्थ नहीं है।

निराबाध रूप से व्यतीत हो रहे, आयुष्य के क्षणों में जो भव्य आत्माएं स्व की क्रियावती शक्ति को शाश्वत शांति की उपलब्धि कराने वाले लक्ष्य की ओर गतिशील करती हैं वे ही आत्माएं प्राप्त मानव जीवन की दुर्लभता को सार्थक करने में समर्थ हो जाती हैं। संसार की समस्त आत्माओं के पास क्रियावती शक्ति है। आवश्यकता है, उसे सही दिशा में नियोजित करने की।

○ ○ ○

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी,
विविध भंगी मन मोहे रे।।
करुणा कोमलता तीक्षणता,
उदासीनता सोहे रे।।

स्थानांग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रकार की गति बतलाई गई है—
चउव्विहा गई पन्नता—नरयगई, तिरिय गई, मणुय गई, देव गई।

नरक गति, तिर्यच गति, मनुष्य गति और देव गति। कृत अशुभ कर्मों का प्रायः दुःख रूप भोग आत्माएं अधोलोक में स्थित नरक गति में करती हैं। कृत शुभ कर्मों का प्रायः सुख रूप भोग आत्माएं देवलोक में करती हैं। कृत शुभाशुभ कर्मों का प्रायः सुख—दुःख रूप भोग आत्माएं तिर्यच एवं मनुष्य गति में करती हैं।

चकडोलर और संसार

संसार 'चकडोलर' के समान विभक्त है। 'चकडोलर' में चार पालखियाँ होती हैं, एक ऊपर, एक नीचे और दो मध्य में— आमने—सामने। संसार में भी चार गतियाँ हैं— नरक गति नीचे है, देव गति ऊपर है, तिर्यच और मनुष्य गति मध्य में हैं। यह विश्लेषण बहुलांश की अपेक्षा से किया गया है। इन चार गति रूप संसार में अनन्तानन्त आत्माएं परिभ्रमण कर रही हैं। आत्मा का परम उत्कर्ष और मुक्ति की अवाप्ति मात्र मनुष्य गति से ही हो सकती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने दुर्लभता से प्राप्त होने वाले चार अंगों में से पहला अंग मानव जीवन बतलाया है। भौतिक ऋद्धि—समृद्धि से तो मानव जीवन से भी देव जीवन बहुत बड़ा है किन्तु देवता अध्यात्म में प्रवृत्ति नहीं कर पाते अर्थात् वे एक नवकारसी का तप भी नहीं कर सकते। मानव यद्यपि बाह्य वैभव में देवों की अपेक्षा अत्यल्प वैभव वाला है, किन्तु अध्यात्म की प्रवृत्ति में वह सबसे आगे है। साधना के क्षेत्र में बढ़ कर वह एक के बाद एक सोपानों को पार करता हुआ चरम लक्ष्य का वरण कर सकता है। ऐसे ही दुर्लभ तन को प्राप्त कर जिनेश्वर भगवंत, साधना के सोपानों पर अहर्निश बढ़ते ही चले गये। अन्ततः लक्ष्य को प्राप्त कर ही लिया। आज हम उन्हीं को आदर्श मानकर साधना के पथ पर बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं।

गुणगान के साथ आचरण भी

किसी भी तीर्थकर का गुणगान भले ही करें, किन्तु जब तक उनके

गुणों का प्रवेश जीवन में नहीं होगा तब तक स्व का उत्थान नहीं हो सकता। किसी ने व्यापार करने का ढंग सीख लिया— उसके गुर समझ लिये, इतने मात्र से उसे लाभ नहीं हो जाता। लाभ तो तब होता है, जब सीखे गये नियमों के अनुसार व्यापार में प्रवृत्ति करता है। इन व्यावहारिक बातों का तो आपको बहुत अच्छा विज्ञान है। इन्हें समझने—समझाने की कोई आवश्यकता नहीं है। आपकी प्रज्ञा उस ओर तो बहुत तीव्रता से काम करती है। लेकिन उस समीक्षण प्रज्ञा का कुछ उपयोग आप इधर भी करिये, इसी से जीवन का महत्त्व समझा जा सकेगा। तीर्थकर भगवानों के गुणगान तक ही सीमित नहीं रहना है, अपितु उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलने का प्रयास करना है।

तीर्थकर भी मानव है

जिन तीर्थकर भगवंतों का हम गुणगान करते हैं वे भी तो मानव ही थे। इसी मानव तन में रहकर ही उन्होंने सत्पुरुषार्थ के बल पर परम साध्यता को प्राप्त किया था। मानव—मानव की अपेक्षा उनमें और हमारे में कोई अन्तर नहीं है। यही नहीं, जो पांच इन्द्रियां उनके थीं, वही पांच इन्द्रियां हमारे भी हैं। उनके तीन कान या चार आंखें नहीं थीं। शरीर की मौलिक रचना में भी कोई अन्तर नहीं है। इन सब की समानता होते हुए भी, वे तो भगवान बन गये और हम अभी तक भक्त ही बने हुए हैं। उनकी क्रियावती शक्ति ने उनको उच्च स्थान पर पहुँचा दिया और हमारी क्रियावती शक्ति अभी तक भी हमको परमोन्नत अवस्था की ओर नहीं पहुँचा पाई है।

उदासीनता-निष्क्रियता नहीं है

शीतलनाथ भगवान् के तीसरे गुण उदासीनता से कई निष्क्रियता अर्थ भी ले लेते हैं, जो योग्य नहीं है। उदासीनता की व्याख्या यद्यपि गत दिन कर चुके हैं फिर भी इस पर कुछ विचार करना आवश्यक लग रहा है। निष्क्रिय व्यक्ति कभी भी आत्मोत्थान नहीं कर सकता। आत्मोत्थान क्रियावती शक्ति से ही होता है। साधना के क्षेत्र में उनकी निरन्तर प्रगति ही उनकी क्रियावती शक्ति की परिचायक है। सिद्धान्त की भाषा में उट्टाणे वा, कम्मे वा, बलेवा, वीरिए, पुरिसक्कार परक्कमे वा— अर्थात् आत्मा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से सम्पन्न होती है। इन उत्थानादि के द्वारा ही भव्य साधक आगे बढ़ता है। गुणस्थान का आरोहण भी इन्हीं के द्वारा होता है। चौदहवें गुणस्थान में भी इन उत्थानादि रूप क्रियावती शक्ति की प्रवृत्ति

निरन्तर चलती रहती है।

शीतल जिनपति में उदासीनता का गुण इसलिये बतलाया है कि वे राग-द्वेष रहित होने से उनकी सभी क्रियाएं-उपदेश देना, विहार करना, उठना, बैठना, आहार ग्रहण आदि उदासीनतापूर्वक होती थीं। आत्म-सिद्धि नहीं हो पा रही है- इसका कारण क्या है? गहराई में उतरने पर आपको ज्ञात होगा कि आपकी क्रियावती शक्ति सही दिशा की ओर कार्य नहीं कर रही है। उसे योग्य दिशा की ओर नियोजित करना आवश्यक है।

सिद्धात्मा भी निष्क्रिय नहीं है

बहुत लोग क्रिया शब्द से केवल कायिक हलन-चलन होना, इतना ही अर्थ करते हैं। इस हलन-चलन मात्र को क्रिया मानने वालों की दृष्टि में सिद्धात्मा निष्क्रिय बन जाती है। क्योंकि सिद्ध बनने से पूर्व ही काय योग का निरोध हो जाता है। काय योग ही नहीं, मन और वचन योग का निरोध भी हो जाता है। तीनों योगों में से किसी भी योग का सूक्ष्मतः भी परिस्पन्दन अवशेष नहीं रहता। इसीलिये चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को अयोगी केवली कहा है। अतः सिद्ध अवस्था में तो मन, वचन, काया के होने का प्रश्न ही नहीं रहता। इतने मात्र से सिद्ध निष्क्रिय हो जाय और उनमें किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं होती तो फिर कौन आत्मा होगी जो ऐसी सिद्ध अवस्था में जाना चाहेगी।

षड्दर्शनों में एक वैशेषिक दर्शन भी आता है जो संख्या की दृष्टि से पांचवें नम्बर पर है। उस दर्शन की मान्यता है कि आत्मा मोक्ष में जाने के बाद बिलकुल निष्क्रिय हो जाती है, उपलखण्ड के समान हो जाती है। उसमें न सुख रहता है न दुःख। वह दोनों ही अवस्थाओं से सर्वथा निरपेक्ष हो जाती है। उनकी इस अवधारणा पर किसी ने कहा है-

ojaolnkousjE; } dkSVRoeflk okNreA

u rgoSk"kdh e(Dr] xkreks xUr(ePNfrAA

वृन्दावन के जंगल में गधा बना जाना अच्छा है किन्तु गौतम द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक मुक्ति में जाने की कभी भी इच्छा नहीं होती।

सुज्ञो! यदि सिद्धों में भी किसी भी प्रकार की क्रियावती शक्ति स्वीकार नहीं की जाएगी तो वह अवस्था करीब वैशेषिक दर्शन के अनुसार

ही हो जाएगी। किन्तु जैन दर्शन में तो मुक्ति का विलक्षण रूप प्रतिपादित किया गया है। मुक्तिगत आत्मा अनन्त सुख से सम्पन्न हो जाती है। क्रिया शब्द से केवल हलन-चलन अर्थ लिया जाय तो इस दृष्टि से सिद्ध निष्क्रिय हैं। क्योंकि वे अयोगी हैं किन्तु उनमें स्वात्मरमण क्रिया हर क्षण, हर पल हो रही है। स्वात्मा में ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख के साथ ही अनन्त-अनन्त शक्तियों का निवास है। सिद्ध अपनी इस अनन्त में रमण करते रहते हैं। अतः आत्मरमण क्रियावती शक्ति की अपेक्षा सिद्धों को निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार शरीर की अपेक्षा से वर्णादिक नहीं होने से उन्हें अरूपी कहा जाता है फिर भी आत्मा का मौलिक रूप तो उनमें होता ही है। उसी प्रकार शरीर सम्बन्धी क्रिया न होते हुए भी आत्म रमण रूप क्रिया तो सिद्धों में भी होती है।

श्रावक तीर्थकर नहीं बनते

उसी भव में तीर्थकर बनने वाली भव्य आत्मा, माता के गर्भ में ही तीन ज्ञान से सम्पन्न होती है- मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान। जब दीक्षा ग्रहण करती है तब मनः पर्याय ज्ञान और हो जाता है। सभी तीर्थकर क्षायिक सम्यक्त्व से सम्पन्न होते हैं। तीर्थकर चौथे गुणस्थान से सीधे सातवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। श्रावक व्रत ग्रहण करना थोड़ा कायरता का सूचक है। जो आत्मा साधु जीवन अंगीकार नहीं कर पाती, जिसके साधु जीवन अंगीकार करने की स्थिति नहीं होती, वह आत्मा श्रावकत्व अंगीकार करती है। तीर्थकर बनने वाली सभी आत्माएं अनन्त सत्त्व से सम्पन्न होती हैं। अतः उनके कायरता का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता। एतदर्थ ऐसी आत्माएं चतुर्थ गुणस्थान से सीधी सप्तम गुणस्थान में प्रवेश करती हैं।

आप भी अनन्त सत्त्व सम्पन्न हैं

बन्धुओ! तीर्थकर भगवन्तों के जीवन को सुनकर हमें भी अपनी शक्ति को जगाना है। हमारे भीतर भी अनन्त शक्ति का स्रोत है। उस स्रोत को खोलने के लिए 'उट्टिए नो पमायए'- उट्टिए, अब प्रमाद करने का अवसर नहीं है। इस दुर्लभ मानव जीवन के अमूल्य क्षण बीतते चले जा रहे हैं। जो भी क्षण बीत चुका है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह वापस नहीं आने वाला है।

'जा जा वच्चई, रयणी न सा पडिनियत्तई' जितने दिन और रात्रियां बीत चुकी हैं उसमें से कोई भी पुनः आने वाली नहीं है। आयुष्य के बीते हुए

एक क्षण को भी संसार की कोई भी शक्ति वापस नहीं ला सकती। ऐसे अमूल्य क्षणों को व्यर्थ ही हाथ से मत जाने दीजिये। आपको चातुर्मास का भव्य प्रसंग प्राप्त हुआ है। संत और सतियों का सान्निध्य भी मिल रहा है। जहां गांवों में संत-सतियों को एक-एक दिन रखने के लिये भी लोग तरसते हैं, वहां आपको पूरा चातुर्मास— वह भी चार महीने का नहीं, अपितु पांच मास का। इस दुर्लभ संयोग को यों ही मत जाने दीजिये। श्रावण, भाद्रमास में तो श्रावणकण वैसे ही धर्म-ध्यान का विशेष लाभ लेते हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवास, पौष 1, दया आदि जिसकी जिसमें रुचि हो, वह करना चाहिये। यह मानव जीवन मिला है। यदि कुछ किये बिना ही चले गये तो फिर बार-बार मिलने वाला नहीं है। अन्ततः पश्चात्ताप ही हाथ में रह जाएगा।

रत्न परीक्षक-पहला जौहरी

मानव जीवन की दुर्लभता को स्पष्ट करने के लिये मैं आपको जौहरियों का एक रूपक सुना देता हूँ। प्राचीनकाल में वाहनों का अभाव होने से व्यापारी वर्ग पैदल यात्रा किया करते थे। एक जवाहरात का व्यापारी, व्यापार के लिये दूर प्रदेश की यात्रा कर रहा था। उसी यात्रा के दौरान वह एक गांव पहुंचा और भोजन सामग्री के लिये किसी वणिक् की दुकान में गया। वहां उसे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि बनिये के तराजू पर एक चमचमाता सवा लाख का हीरा बंधा हुआ है। जौहरी सोचने लगा— यह बुद्ध हीरे के महत्त्व को नहीं समझता है, यदि जानता होता तो इस प्रकार नहीं बांधता। वास्तव में बनिये को भी यह मालूम नहीं था कि तराजू पर बंधा पत्थर बहुमूल्य हीरा है। उसने तो एक किसान गडरिये से दो चिमटी तम्बाकू में उसे लिया था। गडरिये को जंगल में चमचमाता पत्थर मिला। उसने उस पत्थर को यह सोचकर रख लिया कि सेठों के लड़के खिलौनों से खेलते हैं। मेरी स्थिति यह नहीं है कि मेरे बच्चों के लिये भी खिलौने खरीद कर ला सकूँ। मेरे बच्चे इस पत्थर से खेलेंगे। किन्तु जब वह बनिये की दुकान पर दाल-आटा लेने पहुंचा तो बनिये ने तराजू की कण ठीक करने के लिये उससे वह पत्थर मांगा। ज्योंही तराजू में पत्थर रखा गया, त्योंही कण बराबर हो गई। रोज-रोज की झंझट मिटाने के लिये बनिये ने दो चिमटी तम्बाकू देकर वह पत्थर खरीद लिया और तराजू के बांध दिया।

जौहरी ने खाद्य सामग्री को लेने के साथ ही बनिये से पूछा— क्यों भाई! इस को तुम बेच सकते हो?

बनिये ने कहा— क्यों नहीं जरूर। मैं तो व्यापारी हूँ। व्यापारी तो थाली में परोसी रोटी को भी समय पर बेच देता है। अच्छा तो बताओ, तुम इस पत्थर के कितने पैसे लोगे? जौहरी के पूछने पर बनिये ने सोचा— जरूर यह पत्थर कोई साधारण पत्थर नहीं है। अन्यथा यह व्यक्ति इसे खरीदने की बात नहीं करता। उसने सोच कर कहा— मैं इसके पांच रुपये लूंगा। जौहरी ने कहा— नहीं। इसके चार रुपये ले लो। बनिया बोला— नहीं, मैं पांच रुपये से एक पैसा कम नहीं लेता। जौहरी यह सोचकर चला गया कि इसे दूसरा कौन ले जाने वाला है। अभी तो भोजन कर लूं बाद में आकर चार रुपये में देगा तो ठीक अन्यथा पांच रुपये में लूंगा।

पहले जैसा दूसरा

संयोग की बात है— कुछ ही समय के बाद एक दूसरा जौहरी भी उसी गांव में आ पहुंचा और वह भी भोजन सामग्री लेने के लिये उसी बनिये की दुकान पर गया। उसने भी जब उस पत्थर के मूल्य के विषय में पूछा तो बनिये ने सोचा— वास्तव में यह पत्थर बहुत अधिक कीमती है उसने उसके दस रुपये बतलाए। इस जौहरी ने भी उसे एक रुपया कम कर नौ रुपये लेने के लिये कहा तो वह टस से मस नहीं हुआ। यह जौहरी भी पहले वाले जौहरी की तरह 'बाद में आकर ले जाऊंगा इसे दूसरा कौन ले जाने वाला है।' सोचकर भोजन के लिये चला गया।

दूसरे जैसा तीसरा

कुछ ही समय बीतने के बाद एक तीसरा जौहरी भी उसी गांव में पहुंचा और वह भी भोजन सामग्री के लिये उसी बनिये की दुकान पर गया। उसने भी जब उस चमचमाते हीरे को देखा तो उससे खरीदने के लिये बनिये से मूल्य पूछा। इस बार बनिया और अधिक विचार में पड़ गया। बात क्या है— इस पत्थर में जरूर कुछ न कुछ करामात है, तभी तो एक के बाद एक तीन व्यक्ति इसे खरीदने के लिये आ पहुंचे। पहले वाले को पांच रुपये के लिये कहा तो वह चार रुपये देने के लिए तैयार हो गया। दूसरे को दस रुपये के लिये कहा तो वह नौ रुपये देने के लिये तैयार हो गया। अतः इस व्यक्ति से और अधिक रुपये मांगना चाहिये। यह सोच कर बनिये ने कहा— इसके पन्द्रह रुपये लूंगा। उसने भी चौदह रुपये देने को कहकर 'बाद में आकर पूरे दे जाऊंगा'—यह सोच कर वह भी भोजन करने के लिये चला गया।

चौथा सबसे वलक्षण

कुछ ही समय और बीतने के बाद चौथा रत्नों का व्यापारी भी संयोग से उसी गांव के, उसी बनिये की दुकान पर भोजन सामग्री लेने के लिए पहुंच गया। इसने भी जब उसी पत्थर रूपी हीरे को देखा तो उसकी कीमत के विषय में पूछा। इस बार तो बनिये ने आव देखा न ताव और सीधे ही इक्कीस रुपये मांग लिये। यह चौथा व्यापारी वलक्षण था। उसने सोचा मोल-भाव करने का समय नहीं है। उसने तुरन्त इक्कीस रुपये देकर उस पत्थर रूप सवा लाख रुपये के हीरे को खरीद लिया और बहुत खुश होता हुआ अपने शहर की ओर चला गया।

हानि में, मैं नहीं, तुम रहे

अब बन्धुओ! पहला व्यापारी खा-पीकर मस्ती के साथ बनिये की दुकान पर पहुंचा और बोला- लो पांच रुपये ले लो और वह पत्थर दे दो। इतने में ही दूसरी दिशा से दूसरा जौहरी आ पहुंचा। वह बोला- लो दस रुपये ले लो और वह पत्थर मुझे दे दो। दोनों जौहरी संघर्ष करने लगे। एक बोला, मैंने पहले मोल किया है इसलिये मैं लूंगा, तो दूसरा बोला- नहीं मैं तुम्हारे से अधिक रुपये दे रहा हूँ, इसलिये मैं लूंगा। इनके संघर्ष के बीच में तीसरा रत्न व्यापारी भी, भोजनादि कार्यों से निवृत्त होकर बहुत लाभ की खुशी में झूमता हुआ बनिये की दुकान पर आ पहुंचा और चिल्लाने लगा- लो, मैं पन्द्रह रुपये देता हूँ- वह पत्थर मुझे दे दो। तीनों जौहरी पत्थर की मांग करने लगे। एक कहता है, मैं लूंगा तो दूसरा गरजता है, नहीं मैं लूंगा। इतने में तीसरा चिल्लाता है, मैं लूंगा। तीनों में जोरदार संघर्ष होने लगा। उनके इस संघर्ष को देखकर बनिया बोला- तुम लड़ते क्यों हो? जिस पत्थर के लिये तुम लड़ रहे हो, वह तो मैंने कभी का ही बेच दिया।

ज्योंही जौहरियों ने रत्न के बिक जाने की बात सुनी त्योंही होश उड़ गए। झगड़ा स्वतः समाप्त हो गया। सच है- एक कौए के मुंह में मांस का टुकड़ा रहेगा तो सभी कौए लेने के लिये टूट पड़ेंगे। और ज्योंही वह समुद्र में गिर जाता है तो सबका झगड़ा समाप्त हो जाता है। यही संसार की स्थिति है। सभी धन के टुकड़ों के लिये दौड़ रहे हैं। संघर्ष कर रहे हैं। भाई, भाई को मारने के लिये तैयार है। कितना ही किया जाय पर धन कभी स्थायी नहीं रहने वाला है।

उन रत्न व्यापारियों ने बनिये से पूछा- तुमने उसको कितने में बेचा?

बनिये ने कहा- पूरे इक्कीस रुपये में।

तीनों व्यापारी बोले तुम तो ठगा गए। अरे! वह तो पूरे सवा लाख रुपये का बहुमूल्य हीरा था।

बनिया बोला- मैं नहीं, तुम लोग ठगा गए। मैं तो उस हीरे के मूल्य से अनभिज्ञ था किन्तु तुम तो सब जानते थे। फिर भी मोल-भाव करके छोड़ कर चले गये। इसलिये मैं नहीं, तुम लोग ठगा गए।

वे सभी व्यापारी रत्न के चले जाने से पश्चात्ताप करते हुए अपने-अपने स्थान पर लौट गये।

वास्तव में हानि में कौन?

सुज्ञ बन्धुओ ! यह तो एक रूपक है। आपको तरस आ रही होगी उन व्यापारियों पर, जो मोल-भाव करते रह गये और उस बहुमूल्य रत्न को गंवा दिया। किन्तु क्या यह भी सोचा कि कहीं हमारी हालत तो ऐसी नहीं हो रही है ? मानव जीवन रूप अमूल्य रत्न आपको मिला है। इस रत्न के द्वारा परम सुख को प्राप्त करने के लिये मुनि-जन बराबर उपदेश दे रहे हैं लेकिन अभी नहीं, बाद में धर्म-ध्यान कर लेंगे- इस प्रकार सोचते हुए अमूल्य मानव जीवन को कहीं खो तो नहीं रहे हैं? जब हीरा हाथ से चला जायेगा तो उन व्यापारियों की तरह पश्चात्ताप ही हाथ में रह जायेगा। वह हीरा तो फिर मिल सकता है, किन्तु मानव जीवन रूप हीरे का पुनः मिलना बहुत मुश्किल है।

अब भी समय है जगने का, जागिये और इस अमूल्य जीवन में मुक्ति रूपी परम सुख को पाने के लिये आगे बढ़िये। भगवान महावीर का कहना है-

l e; axk e ek iek; ,A

क्षण मात्र का भी प्रमाद मत करिये। आप लोगों को भी उन व्यापारियों की तरह पश्चात्ताप नहीं करना पड़े इसलिये परम शांति को पाने के लिये धर्म-ध्यान में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

जो भी भव्य आत्मा इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर अपनी क्रियावती शक्ति को आत्मोत्कर्ष की ओर नियोजित करेगी वह निश्चित ही परम शांति प्राप्त करेगी।



8

कर्म विमुक्ति में सहायक-पुण्य

- ☛ कर्मों का विविध रूप
- ☛ कर्म पहले या आत्मा
- ☛ कर्म-आत्मा का अनादि सम्बन्ध
- ☛ अपुनर्भाव से कर्म विजेता : शीतल भगवंत
- ☛ पुण्य व्याख्या : अन्नदान
- ☛ जलदान
- ☛ पानी के अभाव में महाप्रयाण
- ☛ टंकी का पानी धोवन नहीं है
- ☛ स्थान दान, वस्त्र दान, मनः पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य
- ☛ पाप की तरह पुण्य हेय नहीं है
- ☛ पुण्य के तीन रूप-हेय, ज्ञेय, उपादेय
- ☛ शक्ति और व्यक्ति
- ☛ त्रिभुवन प्रभुता : निर्ग्रन्थता
- ☛ योगी और भोगी
- ☛ वक्ता और मौनी
- ☛ अनुपयोगी और उपयोगी

uofogs iq.ks i..kUk&vUu iq.k§ ik.k iq.k§ ysk iq.k§
I ; .k iq.k§ oRFk iq.k§ eu iq.k§ ob iq.k§ dk; iq.k§ uekDdkj
iq.kA

—ठाणांग सूत्र — ठाणा-9

नव प्रकार का पुण्य प्रज्ञप्त किया गया है— अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयन (स्थान) पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य ।

निस्वार्थ भाव से दिया अन्नादिक दान पुण्य की कोटि में आता है । दान, शील, तप, भाव रूप शुभ चिन्तन करना, प्रभु स्तुति, मधुर वचन बोलना, अहिंसादिक की अनुपालना तथा अधिक गुणगान महापुरुषों के नमस्करण से भी पुण्यार्जन होता है । संस्कृत भाषा में पुण्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है— “पुनाति पवित्री करोत्यात्मा नमिति पुण्यम् ।” जो आत्मा को पवित्र करता है उसे पुण्य कहते हैं ।



शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन-प्रभुता,
निर्ग्रन्थता संयोग रे।
योगी भोगी वक्ता मौनी,
अनुपयोगी उपयोगी रे।।शीतल।।

कर्मों का विविध रूप

बंधुओ! संसार की अनन्त-अनन्त आत्माएं चार गति-चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रही हैं। सभी आत्माओं का मौलिक स्वरूप एक समान होते हुए भी कर्मों के कारण विविध विचित्रताएं परिलक्षित होती हैं। ये विचित्रताएं विभिन्न योनियों की अपेक्षा से ही नहीं, अपितु एक-एक योनिगत जीवों में भी बहुत विचित्रताएं दृष्टिगत होती हैं। मनुष्य योनि को ही लीजिये- एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से आकार-प्रकार, रूप-रंग, चाल-ढाल, स्वभाव आदि की अपेक्षा से भी कितना अन्तर पाया जाता है। यही नहीं, एक माता के उदर से युगपद् (एक साथ) उत्पन्न दो बच्चों में भी अंधकार-प्रकाश जैसा अन्तर पाया जाता है। इन सब का अदृष्ट कारण कर्म के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता।

कर्म पहले या आत्मा

कर्म की इस प्रकार की विचित्रता को देखकर सहज ही कुछ प्रश्न प्रस्फुटित हो उठते हैं कि अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्माओं से यह कर्म का सम्बन्ध कब से चला आ रहा है? कर्म का पहले उद्भव हुआ या आत्मा का? यदि कर्म का पहले उद्भव हुआ तो उसका आत्मा से सम्बन्ध क्यों हुआ क्योंकि आत्मा उस समय विशुद्ध रूप में थी। यदि विशुद्ध अवस्था में भी कर्म का सम्बन्ध हुआ माना जाय तो फिर सिद्धों में भी क्यों नहीं होता? ऐसे अनेक प्रश्नों की लम्बी कतार कभी-कभी सामान्य मानस को झंकृत कर देती है। यद्यपि ये सब दार्शनिक विषय हैं। इनकी चर्चा भी गहन, गम्भीर एवं विश्लेषणात्मक है तथापि ऐसी जिज्ञासाओं का समाधान भी आवश्यक है। मैं अभी उन गम्भीर विषयों की विशद चर्चा में न उतर कर आपको एक शास्त्रीय रूपक से उनका समाधान करने की चेष्टा करता हूँ।

भगवती सूत्र में प्रथम शतक के छठे उद्देशक में रोहा अणगार के प्रश्नों का वर्णन आता है। रोहा अणगार ने भगवान महावीर से अनेक प्रश्न

पूछे थे। उनमें से एक प्रश्न यह भी था-

पुविं भंते जीवा पच्छा अजीवा, पुविं अजीवा पच्छा जीवा?

रोहा! जीवा य अजीवा य पुविं पेटे, पच्छापेटे दोवि, ए सासया भावा; अणाणपुव्वी?

पुविं भंते! अंडए पच्छा कुक्कुडी? पुविं कुक्कुडी पच्छा अंडए?

रोहा! से णं अंडएकओ?

भयवं कुक्कुडी ओ?

साणं कुक्कुडी कओ?

भंते। अंडयाओ।

एव मेव रोहा से य अंडए साय कुक्कुडी पुविं पेटे पच्छावेते दो वि एएससासया भावा, अणाणुपुव्वी एसारोहा।

अर्थ- रोहा अणगार ने पूछा- भगवन्! पहले जीव है, बाद में अजीव है या पहले अजीव है और बाद में जीव है?

प्रभु ने रोहा अणगार के प्रश्न को समाहित किया- रोहा! जीवाजीव में आनुपूर्वी भाव नहीं है। जीव, अजीव पहले भी हैं, पीछे भी। ये दोनों शाश्वत भाव रूप हैं।

रोहा अणगार ने जिज्ञासा का स्पष्ट समाधान पाने के लिये एक व्यावहारिक प्रश्न किया- भगवन् अंडा पहले है या कुक्कुटी? कुक्कुटी पहले है या अंडा?

भगवान् ने प्रतिप्रश्न किया- रोहा- वह अंडा कहां से आया?

रोहा अणगार- भगवन् कुक्कुटी से।

भगवान्- रोहा! कुक्कुटी कहां से आयी?

रोहा- भगवन् अंडे से।

अतः हे रोहा! अंडे और कुक्कुटी में पहले या बाद में की स्थिति नहीं है। दोनों ही प्रवाह रूप से शाश्वत हैं।

सुज्ञो! भगवान् ने बहुत सहज रूप में समाधान प्रस्तुत किया। जिस प्रकार अंडे एवं मुर्गी की उद्भूति के विषय में किसी को भी प्राथमिकता नहीं

दी जा सकती। इन दोनों का सम्बन्ध अनादिकालीन होते हुए भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को विच्छिन्न किया जा सकता है। उसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। इस प्रकार की अनादिता के होते हुए भी इनका पारस्परिक सम्बन्ध विनष्ट हो सकता है। शाश्वत तत्त्वों में समूलतः उत्पाद विनाश नहीं होता। चैतन्य तत्त्व शाश्वत है। अतः इसकी उत्पत्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। जब चेतना की उत्पत्ति ही नहीं होती तो उसका अवसान भी नहीं हो सकता।

कर्म-आत्मा का अनादि सम्बन्ध

स्वर्ण और मिट्टी का सम्बन्ध अनादिकालीन परिलक्षित होते हुए भी प्रयत्न विशेष से उन्हें अलग-अलग किया जा सकता है। विद्युत् युक्त पदार्थों में विद्युत् कब से रही हुई है? यह कोई नहीं कह सकता तथापि विद्युत् पृथक्करण किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन होते हुए भी आत्मोत्कर्ष द्वारा आत्मा का पवित्र स्वरूप निखारा जा सकता है। कर्म के सम्बन्ध को अपुनर्भाव से अलग कर दिया जाता है जिससे पुनः कभी कर्मों का बन्धन नहीं हो। जिस प्रकार बीज को जला देने से उसके उत्पन्न होने की शक्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्म बीज के दग्ध हो जाने पर पुनः कर्म बन्धन की स्थिति नहीं आती।

जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है—

tgk nM<k.kach; k.ka.k tk; fr i q vājgk

dEe ch, l qnM<l qu tk; fr kkoājgkAA

बीज के जल जाने पर उससे नवांकुर प्रस्फुटित नहीं हो सकता। वैसे ही कर्म रूपी बीजों के दग्ध हो जाने पर जन्म-मरण रूपी अंकुर फूट नहीं सकता।

अपुनर्भाव से कर्म विजेता : शीतल भगवंत

जिन महाप्रभु शीतलनाथ भगवान् की स्तुति का प्रसंग आपके समक्ष चल रहा है उन नरपुंगव ने अपने सत्पुरुषार्थ के द्वारा अपुनर्भाव से कर्मों को अपनी आत्मा से विलग कर दिया था। इस विलगीकरण से उनकी आत्मा में जो अनन्त शांति अभिव्यक्त हुई उसका विवेचन कवि ने बहुत ही विलक्षण भाषा में व्यक्त किया है।

एक तरफ वे समान शक्तिसम्पन्न होते हुए भी अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा से अलग हैं। त्रिभुवन के नाथ होते हुए भी निर्ग्रन्थ हैं। योगी होते हुए भी भोगी हैं। वक्ता होते हुए भी मौनी हैं। उपयोगवान होते हुए भी अनुपयोगी हैं। परस्पर विरुद्ध लगने वाले गुण भी शीतल जिनपति की आत्मा में विद्यमान हैं। ऐसे तीर्थंकर महापुरुषों का गुणगान कर भव्यात्माएं महान् कर्म निर्जरा के साथ पुण्यवानी का अर्जन भी करती हैं।

पुण्य व्याख्या : अन्नदान

शास्त्रकारों ने पुण्य की व्याख्या नव प्रकार से व्याख्यायित की है।

नव विधे पुण्ये पण्यते— अन्नपुण्ये, पाण पुण्ये, लेण पुण्ये, सयण पुण्ये, वत्थपुण्ये, मणपुण्ये, वइ पुण्ये, काय पुण्ये, नमोक्कार पुण्ये।

पुण्य नव प्रकार के हैं— अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयन पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य।

नव विध पुण्य में सबसे पहला अन्न पुण्य बतलाया है। अन्नादि पदार्थ शुभ भावना के साथ दिये जाने पर अन्न पुण्य का प्रसंग बनता है, उसमें पात्र भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। सुपात्र दान के पात्र भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार के होते हैं तथा अनुकम्पा दान भी दिया जा सकता है। किस प्रसंग पर किन भावों के साथ किस पात्र को, किस रूप में दिया जाता है, उन भावों की तारतम्यता के आधार पर पुण्यार्जन के साथ-साथ आत्मशुद्धि रूप निर्जरा भी होती है। यही स्थिति सभी पुण्य के भेदों में बनती है। जब कभी साधु-साध्वी गोचरी के लिये घरों में पहुंचते हैं तो उन्हें बहराने के लिये छोटे-छोटे बच्चे उछलने लगते हैं। दान देने की उत्कृष्ट भावना उनके मन में हिलोरें लेने लगती हैं। ऐसे बच्चे माता-पिता आदि के द्वारा संस्कारित होते हैं। वे सहज ही महान् पुण्यानुबंध कर लेते हैं। शालिभद्र की आत्मा ने पूर्व भव में संत-महापुरुषों को उत्कृष्ट भावना से आहार-दान दिया था। परिणामस्वरूप महान् पुण्यानुबंध किया। इतनी विशाल ऋद्धि-समृद्धि को प्राप्त किया कि सम्राट श्रेणिक का वैभव भी उसके सामने फीका था।

जलदान

जलदान से पुण्यार्जन होता है। दाता निस्वार्थ भावना से विविध रूप में जलदान देते हैं। पंच महाव्रतधारी साधक को दिये जाने वाले जल का दान

तो धर्म के साथ—साथ महान् पुण्यबंध कराने वाला होता है। पंच महाव्रत धारी साधु कुएँ बावड़ी आदि के सचित्त जल को पीने की बात तो दूर रही, उसको सपर्श भी नहीं करते। उनके लिये तो बीस प्रकार का धोवन रूप अचित्त पानी या उष्ण पानी ही एषणीय रूप में उपयोग में आता है, और वह भी उनके लिए बनाया हुआ नहीं हो।

बर्तन आदि तो प्रायः सभी घरों में धुलते हैं। इन बर्तनों का धोया पानी राख के स्पर्श से अचित्त हो जाता है। इस प्रकार दुग्ध के बर्तनों को, छाछ के बर्तनों को धोने से भी पानी निर्जीव हो जाता है। दाल का पानी, चावल का पानी, दाख का पानी आदि अनेक प्रकार से धोवन पानी आप लोगों के घरों में सहज रूप से प्रायः प्रतिदिन बनता है। उस पानी को एकत्रित करने का विवेक रख लिया जाय तो समय पर किन्हीं संत महापुरुषों के पधारने पर आप पानी बहरा कर महान् पुण्य का बन्धन कर सकते हैं। क्योंकि आहार तो कहीं पर भी उपलब्ध हो सकता है, धोवन—पानी की उपलब्धि में गृहस्थ को विवेक होना आवश्यक है।

हर सदगृहस्थ का कर्तव्य हो जाता है कि साधु—साध्वी गांव या शहर में चाहे हों या न हों, किन्तु सहज रूप में तैयार हुए पानी का विवेक रखें तो न मालूम किस समय संत—मुनिराज पधार जायें और आपको जलदान का महान् लाभ मिल जाय। संत—मुनिराज पधारें या न पधारें, अगर आपके घर में धोवन पानी सुरक्षित होगा तो जितनी बार आपकी दृष्टि उस बर्तन की ओर जायेगी उतनी बार आपके मन में शुभ भावना आयेगी कि धोवन—पानी पड़ा है, कोई मुनिराज पधारें तो उनके उपयोग में आ जाय। इस भावना से भी आप पुण्यानुबंध करेंगे। कभी—कभी तो साधु जीवन में ऐसे समय भी आते हैं कि जब अचित्त, प्रासुक जल के अभाव में तृषा—परीषह को सहन करते—करते साधक परलोक की यात्रा पर प्रयाण कर जाते हैं।

पानी के अभाव में महाप्रयाण

एक बार स्वर्गीय गुरुदेव शांत क्रान्ति के जन्मदाता आचार्यश्री गणशीलालजी म.सा. सरदारशहर वर्षावास के लिये बीकानेर से थली प्रान्त की ओर विहार कर रहे थे। गरमी का समय था। थली प्रांत में प्रासुक पानी सहज रूप से उपलब्ध नहीं होता था। आचार्य प्रवर आदि संतगण का सभी परीषहों को सहन करते हुए विहार चल रहा था। छः संत होने से सुविधा के

लिये दो विभाग कर दिये गये थे। आचार्य प्रवर आदि तीन संत विहार करते हुए डूंगरगढ़ पहुंच गये। तीन संत एक गांव पीछे थे। वहां गवेषणा करने पर भी प्रासुक पानी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हुआ। स्वल्प पानी से तीनों मुनियों की तृषा शांत होना सम्भव नहीं थी। सूर्य पर कुछ बादल थे, अतः तीनों मुनिवर मध्याह्न में ही यह सोचकर आगे बढ़ गये थे कि तीन कोस की दूरी पर डूंगरगढ़ में युवाचार्यश्री (आचार्य प्रवर) विराजमान हैं, वहाँ प्रासुक पानी मिल जायेगा। कुछ दूर चले होंगे कि बादलों के हट जाने से सूर्य प्रचण्डता के साथ तपने लगा। धरती तप्त हो चुकी थी— तथापि तीनों मुनिवर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ रहे थे। किन्तु वयोवृद्ध मुनिवर श्री मोतीलालजी म.सा. को डूंगरगढ़ के डेढ़ कोस दूर रहते चक्कर आने लगे। कण्ठ सूखने लगे, घबराहट बढ़ रही थी, उन्होंने अपनी स्थिति का भान साथी मुनियों को कराया। परिस्थिति की गम्भीरता पर विचार कर उन मुनियों में से एक मुनि तो पानी लेने के लिये डूंगरगढ़ की ओर बढ़ गये और एक मुनि वृद्ध मुनिश्री को एक खेजड़ी की छाया में विश्रान्ति के लिये ले गये। इधर आचार्य प्रवर का डूंगरगढ़ से विहार हो चुका था। जब मुनिश्री पानी के लिये शहर में पहुंचे, इधर—उधर जैनी भाइयों से पूछा तो न तो उन्होंने आचार्य प्रवर के विराजने का स्थल ही बतलाया, न ही प्रासुक पानी ही बहराया, किन्तु हँसी—मजाक करने लगे। मुनिश्री धैर्य के साथ आगे बढ़ गये तो आशारामजी झंवर का मकान आ गया। उन्होंने मुनिराज को भक्ति भाव से अपने यहां सहज रूप से उपलब्ध धोवन पानी बहराया। मुनिश्री पानी लेकर पुनः वयोवृद्ध मुनिश्री के पास शीघ्रता के साथ पहुंचने लगे— वे लगभग फर्लांग—डेढ़ फर्लांग दूर रहे होंगे, इसी बीच वयोवृद्ध मुनिश्री मोतीलालजी म. ने संथारापूर्वक प्राण त्याग दिये। यह होती है संयम के प्रति दृढ़ता। प्राण चले जायें पर संयम की मर्यादाओं को नहीं तोड़ना।

सज्जनो! ऐसी विकट परिस्थिति में संतों को प्रासुक पानी की शीघ्र उपलब्धि हो जाती तो सम्भव है मुनिश्री का जीवन बच जाता। किन्तु कई लोगों ने धर्म का वास्तविक स्वरूप नहीं समझने के कारण पानी न बहरा कर उन मुनिश्री की मजाक की। खैर उससे मुनिश्री के तो कर्मों की निर्जरा ही हुई किन्तु उन भाइयों ने तो कर्मों का बंधन किया। यह तो एक ऐतिहासिक घटित घटना का यथार्थ चित्रण है। मेरा तो आपसे यह कहना है कि आप सहज रूप से बनने वाले प्रासुक पानी का विवेक रखें तो जलदान के महान् पुण्य से लाभान्वित हो सकते हैं।

टंकी का पानी धोवन नहीं है

वर्तमान युग में ऐसा तर्क भी सामने आता है कि आजकल टंकी से फिल्टर होकर आने वाला पानी अचित्त निर्जीव हो जाता है। अतः साधक सीधा नल से भी पानी ले सकता है। किन्तु बन्धुओ! विचारणीय विषय यह है कि टंकी से बनने वाले फिल्टर पानी की निर्जीवता संदिग्ध है। दूसरी बात, नलों में तो पानी पहले के दिनों का भरा रहता है। कहीं-कहीं तो कई दिनों तक पानी नलों के मोड़ में रह जाने से अनन्तकालिक जीवों की भी उत्पत्ति हो जाती है। नया आने वाला पानी इस सजीव पानी से मिलकर आने से नल के पानी की परिपूर्ण निर्जीवता तो रह ही नहीं सकती। साधु के लिये परिपूर्ण रूप से प्रासुक पानी ही उपादेय है। भगवान् ने धोवन पानी लेने का विधान किया है। धोवन से तात्पर्य बर्तन आदि को धोने से जो पानी तैयार होता है उसे धोवन कहते हैं। अतः टंकी का पानी धोवन नहीं है। इन अनेक कारणों से नल का पानी साधु के लिए कतई ग्राह्य नहीं है। यदि कोई साधक ऐसा पानी ग्रहण करता है तो उसका अहिंसा महाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकता।

स्थान दान

पुण्य का तीसरा भेद लयन पुण्य है। मकान आदि का दान लयन पुण्य में आता है। साधु को ठहरने के लिये मकान देने वाला शय्यातर महान् पुण्य का अर्जन करता है। क्योंकि मकान देने वाला गृहस्थ गौण रूप से संत-मुनिराजों को अन्न, जल ही नहीं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि बहुत कुछ देता है। उसके द्वारा दिया गया मकान मुनिराजों की संयमाराधना में सहायक होता है। यह तो संत-मुनिराजों के लिये स्थान देने की बात हुई। स्वधर्मी आदि बन्धुवों को आश्रय देने से भी पुण्य बंध होता है। यही नहीं, समझ लीजिये, आप यहां पर बैठे हैं, व्याख्यान श्रवण कर रहे हैं। जन-समुदाय के अधिक हो जाने से स्थान की संकुचितता का प्रसंग है। ऐसे समय में किसी का घुटना अपने घुटने से अड़ गया और गुस्सा आ गया तो वहां कर्म बंधन की स्थिति बन जाती है। ऐसे ही प्रसंगों पर जो अपने अंगों को संकुचित करके दूसरों को बैठने का स्थान देता है तो वह पुण्यार्जन कर लेता है।

शयन दान

पुण्य का चौथा भेद है- पाट, पाटले, शय्या संस्तारक आदि का दान करने से शयन पुण्य का प्रसंग बनता है।

वस्त्र दान

पुण्य का पाँचवा भेद वत्थ पुण्य का है। वस्त्र देने से पुण्य होता है। दीन-हीन प्राणियों को निःस्वार्थ शुभ भाव से वस्त्र देने पर भी पुण्यार्जन का प्रसंग बन जाता है। मैंने ऐसा सुना है, रायपुर के सेठ श्री लक्ष्मीचन्द्रजी धारीवाल शीतकालीन ऋतु में रात्रि में बाजारों में पहुंचते तथा फुटपाथ पर पड़े व्यक्तियों पर गर्म वस्त्र डालकर आगे बढ़ जाते। यह उनका रोज का क्रम था। वे दान देकर भी उसे गुप्त रखना चाहते थे। इस प्रकार दिया जाना वाला वस्त्र दान, वस्त्र पुण्य की कोटि में आता है।

मनः पुण्य

छठा भेद है- मन में पवित्र भावना रखने से तथा निस्वार्थ भाव से समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पापरक आत्मीय भावना रखने से मनः पुण्य की स्थिति बनती है।

वचन पुण्य

सातवां भेद है- निस्वार्थ भाव से मुंह से पवित्र मधुर शब्द बोलने से, पंच परमेष्ठी का गुण-गान करने से वचन पुण्य का प्रसंग बनता है।

काय पुण्य

आठवां भेद है- निस्वार्थ भाव से काया द्वारा किसी की सेवा करने से काय पुण्य होता है।

नमस्कार पुण्य

नववां भेद है- निस्वार्थ भाव से विशिष्ट पुरुषों को वन्दन नमस्कार करने से पुण्य होता है।

पाप की तरह पुण्य हेय नहीं है

पुण्य की बहुत ही संक्षिप्त व्याख्या मैं आपके समक्ष रख पाया हूँ। यह पुण्य भी कर्म-विमुक्ति में सहायक होने से उपादेय है। कई साधक पाप की तरह पुण्य को सोने की बेड़ी बताकर हेय बतला देते हैं। किन्तु शास्त्रकारों की दृष्टि में पाप की तरह पुण्य हेय नहीं है। भगवती सूत्र के शतक एक उद्देशक चार में कहा है-

नेरइयस्स वा तिरिक्ख जोणियस्स वा, मणुसस्स वा, देवस्स वा जे

कड़े पाव कम्मे, नत्थि तस्स अवेयइत्ता मोक्खो ? नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव द्वारा कृत पाप कर्म है, इसका वेदन किये बिना इनसे छुटकारा नहीं होता।

उपर्युक्त सूत्र में पापकर्म को बाधक बतलाया है। शास्त्रकारों की दृष्टि में पाप की तरह ही पुण्य भी मुक्ति में बाधक होता तो शास्त्रकार पाप के साथ ही पुण्य का भी कथन कर देते, किन्तु शास्त्रकारों ने ऐसा नहीं किया है। करते भी कैसे ? क्योंकि शास्त्रकारों के ज्ञानालोक में पाप की तरह पुण्य एकान्ततः हेय नहीं है।

पाप कर्म की प्रकृतियों का तो 10 गुणस्थान के बाद विच्छेद हो जाता है, किन्तु पुण्य प्रकृति का बन्ध आगे के गुणस्थान तक चलता रहता है। अतः स्पष्ट है कि पाप की तरह पुण्य भी हेय नहीं है।

पुण्य के तीन रूप : हेय, ज्ञेय, उपादेय

पुण्य, आत्मा के लिये हेय, ज्ञेय और उपादेय तीनों हैं। इसका स्पष्टीकरण करने के लिये मैं नाव का रूपक दिया करता हूँ— कोई व्यक्ति समुद्र पार करने के लिये तट पर पहुँचा तो उसने देखा, दो प्रकार की नावें पड़ी हैं। एक पत्थर की तो दूसरी काष्ठ की। वह व्यक्ति विवेकशील प्रज्ञा से चिन्तन कर पत्थर की नाव को छोड़कर काष्ठ की नाव पर बैठता है और समुद्र पार करने लगता है। जब तक किनारा नहीं आ जाय तब तक नाव को नहीं छोड़ सकता। यदि मध्य में वह यह सोचकर नाव को छोड़ दे कि किनारा आने पर तो नाव छोड़नी ही पड़ेगी क्यों न अभी ही छोड़ दिया जाय तो वह किनारे पहुँचे बिना ही समुद्र में डूब जाएगा। अतः उस व्यक्ति के लिये नाव, उस किनारे तक ग्राह्य है, किनारे पर पहुँचने के बाद त्याज्य है। यह तो एक उदाहरण है।

पुण्य कर्म की स्थिति भी इसी प्रकार है— बन्धुओ! संसार समुद्र को पार करने वाली भव्य आत्माओं के समक्ष पाप और पुण्य की, पत्थर एवं काष्ठ के समान दो नावें पड़ी हैं। भव्य आत्माएं इन दोनों नावों का ज्ञेय दृष्टि से ज्ञान कर हेय दृष्टि से पत्थर की नाव के समान पाप को छोड़, उपादेय प्रज्ञा से काष्ठ की नाव के समान पुण्य को ग्रहण कर लेती है। यह पुण्य का ग्रहण संसार समुद्र के उस पार पहुँचने तक चलता है। अतः पुण्य को पाप की तरह ही हेय नहीं मानना चाहिये।

शक्ति और व्यक्ति

मुक्ति रूप परम मंजिल को पाने के लिये साधक पुण्यार्जन भी करता है। उपर्युक्त पुण्य की नव विधा में वचन पुण्य भी बतलाया है। जिनेश्वर भगवंतों के गुण—गान करने से भी पुण्य बंध होता है। कवि आनन्दघनजी ने भी शीतल जिनपति की स्तुति बड़ी ही विलक्षण प्रकार से की है। उस स्तुति में सराबोर होने के लिये उसका कुछ हार्द समझना भी आवश्यक है—

'kDr 0; fDr] f=Hkpu i Hkrk]

fuxZFkrk l a kx jA

; kxh&Hkxch] oDrk&ek&uh]

vuq ; kxh&mi ; kxsjAA 'khyAA

वीतराग देव अनन्त आत्म वीर्य (शक्ति) से सम्पन्न हैं। उनकी शक्ति इतनी सबल है कि यदि मेरु पर्वत को उठाना हो तो वे उठा सकते हैं। भुज बल से अथाह समुद्र को भी पार कर सकते हैं। यही नहीं, सम्पूर्ण लोक को उठाकर गंद की भाँति अलोक में फेंक सकते हैं। यह सब प्रभु की शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिये है। वीतराग देव त्रिकाल में भी ऐसा कभी नहीं करते। ऐसे परमात्मा में ज्ञानादि शक्तियों का पूर्ण व्यक्तिकरण अलग—अलग रूप में होता है। व्यक्ति से यह तात्पर्य भी लिया जा सकता है कि संसारी प्राणियों से परम स्वरूप परमात्मा विलक्षण होने से, वे विशिष्ट व्यक्ति हैं। इस प्रकार तीर्थकर देव शक्तिवान् होने के साथ ही विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी हैं।

त्रिभुवन प्रभुता : निर्ग्रन्थता

चौंतीस अतिशय एवं अष्टमहाप्रतियों से युक्त होने से त्रिभुवन के स्वामी हैं। दूसरी दृष्टि से इसका अर्थ लिया जाये तो परमात्मा में आत्मा के समस्त गुण अभिव्यक्त हो चुके हैं, अतः समस्त आत्माओं के स्वामी हैं। त्रिभुवन प्रभुता के साथ ही प्रभु संसार के समस्त मोह बन्धनों को त्याग कर, पंच महाव्रतों को ग्रहण कर अकिंचन भाव में रमण कर रहे हैं, इसलिये प्रभु में निर्ग्रन्थता का गुण भी है।

योगी और भोगी

बड़ा आश्चर्य होगा, आपको सुनकर कि भगवान् योगी होते हुए भी भोगी हैं। अरे! योग और भोग परस्पर में बिल्कुल विरुद्ध हैं। जहां योग होता

है वहां भोग कैसे हो सकता है और जहां भोग होता है वहां योग कैसे हो सकता है? जैन धर्म की यही विशेषता है कि वह परस्पर विरुद्ध प्रतिभासमान गुणों में भी स्याद्वाद सिद्धान्त के द्वारा सामंजस्य बना देता है। शीतल जिनपति में मन, वचन, काय की परिपूर्ण समीक्षणता पा लेने से योगी का गुण तो विद्यमान था ही, भोगी भी हैं प्रभु। भोग शब्द से कोई भगवान् विलासी नहीं हैं वे तो आत्म गुण के भोगी हैं। भोगान्तराय आदि कर्मों को क्षपित कर देने से भगवान् स्वात्मरमण रूप भोग में तन्मय होने से भोगी भी हैं।

वक्ता और मौनी

द्वादशांग रूप प्रवचन के उपदेष्टा होने से प्रभु वक्ता हैं और सदा स्वात्म भाव में रमण करने के कारण मौनी भी हैं।

अनुपयोगी और उपयोगी

प्रभु वीतरागी बन चुके हैं। उन्हें किसी भी तत्त्व का बोध पाने के लिये उपयोगी लगाने की आवश्यकता नहीं है। बिना उपयोग लगाये ही वस्तु तत्त्व को जानने से प्रभु अनुपयोगी हैं, साथ ही उनमें ज्ञान-दर्शन का उपयोग सतत प्रवहमान होने से वे उपयोगी हैं।

सुज्ञ आत्माओ! इस प्रकार जिनेश्वर भगवंतों के विलक्षण गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हुए मन, वचन, काया की एकाकारता के साथ उनकी स्तुति का प्रसंग बनेगा, समीक्षणता का विकास होगा तो निश्चित ही एक दिन परमात्म भाव का वरण कर सकेंगे।



9

समीक्षण श्रेय और प्रेय का (1)

- ☛ श्रेय मार्ग – आध्यात्मिकता, प्रेय मार्ग – भौतिकता
- ☛ प्रेय मार्ग से आत्मा का भारीपन
- ☛ श्रेय मार्ग से आत्मा का हल्कापन
- ☛ एक ज्वलन्त प्रश्न
- ☛ समाधान की ओर
- ☛ कर्ता के तीन रूप
- ☛ प्रेय मार्ग की प्रेरिका

dg.lakṣaṅgā thok x#; Ūkag0oekxPNāra
t; rḥ ! ik.kḥok, .ka tko fePNand .k I Yyska
, oa [kyq thok x#; Ūkag0oekxPNāra

भगवती सूत्र शतक 12/2

हे भगवान! जीव किस कारण से गुरुत्व भाव को प्राप्त करता है?

जयन्ती श्रमणोपासिका के इस प्रश्न का समाधान दिया प्रभु महावीर ने— जयन्ती! प्राणातिपात से लेकर मिथ्या दर्शन शल्य तक के अट्टारह पाप कर्मों के गर्हित आचरण से गुरुत्व अर्थात् भारीपन को प्राप्त करते हैं।

कहणं भंते। जीवा लहुयत्तं हव्व मागच्छंति।

जयन्ती! पाणाइवायं वेरमणेणं जावमिच्छादंसण सल्ल

वेरमणेणं एवं खलु जयन्ती जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति।

हे भगवन्! जीव लघुत्व भाव कैसे प्राप्त करता है?

जयन्ती श्रमणोपासिका के इस प्रश्न का समाधान दिया प्रभु महावीर ने— जयन्ती! जीव प्राणातिपात के विरमण से यावत् मिथ्या दर्शन के विरमण से लघुत्व भाव को प्राप्त करता है।



श्रेय मार्ग— आत्मा को कर्मों से हल्की करता है।

प्रेय मार्ग— आत्मा को कर्मों से भारी बनाता है।

श्री श्रेयांस जिन अन्तरयामी

आतमरामी नामी रे।

अध्यातम मत पूरण पामी

सहज मुक्ति गति गामी रे। श्री श्रेयांस....

निज स्वरूप जे किरिया साधे कहिए रे,

ते अध्यातम लहीये रे।

जे किरिया करी चउगति साधे

ते न अध्यात्म कहीये रे।। श्री श्रेयांस....

श्रेयांस प्रभु के स्तुति गान का आज भव्य प्रसंग उपस्थित हुआ है। यह प्रसंग मानव जीवन के समक्ष दो मार्ग उपस्थित करता है— एक श्रेय का दूसरा प्रेय का।

श्रेय मार्ग पर चलने वाली आत्मा जन्म—मरण के दुःख से विलग होकर परम सुख और परम शांति को वरती है। सदा—सदा के लिए परमानन्द स्वरूप में रमण करने लगती है। मनुष्य जीवन के उन्नयन का यदि कोई मार्ग है तो ज्ञानी जनों की दृष्टि में श्रेय मार्ग ही है। आप सभी ने अतंत—अनंत पुण्य का अर्जन करके इस अमूल्य मानव तन को पाया है। जिस तन में रह कर आत्मा, श्रेय मार्ग पर निराबाध रूप से चलती हुई चरम लक्ष्य का वरण कर सकती है, उस तन में रहती हुई आत्मा श्रेय मार्ग को यदि नहीं अपनाती है तो और कोई ऐसी जिन्दगी नहीं, ऐसा कोई उपस्थान नहीं कि जिससे वह व्यष्टि से समष्टि की ओर जा सके। अर्थात् व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, विश्व आदि सारी परिधियों से ऊपर उठता हुआ सिद्ध स्वरूप में रमण कर सके।

श्रेय मार्ग परमात्मा तक जाने का व्यवस्थित और शृंखलाबद्ध मार्ग है जिस पर चलने पर स्व और पर दोनों का कल्याण होता है। यह मार्ग अज्ञानांधकार से भरे संसार में राग—द्वेष की झंझावातों के द्वारा चतुर्गति रूपी समुद्र में डूब रही आत्मा को परमानन्द के किनारे पहुँचाने वाला पतवार है।

इस मार्ग की व्याख्या ज्ञानियों ने मात्र सैद्धान्तिक रूप से नहीं अपितु प्रयोगात्मक रूप से उपस्थित की है क्योंकि इसी मार्ग पर चल कर ज्ञानियों ने सिद्धत्वावस्था प्राप्त की।

एतदर्थ यह मार्ग भव्य मानवों के उन्नति पथ पर बढ़ने के लिए विशेषतः समाचरणीय है। किन्तु जो मानव इस मार्ग से स्थलित होता हुआ प्रेय मार्ग की ओर बढ़ता है, वह साधक आत्म-सुख से पीछे हटता हुआ सुखाभास के रूप में लगने वाले सुख एवं भयंकर दुःखों को पाता हुआ नवीन-नवीन कर्मों को उपार्जित करता रहता है। ऐसा मानव जीवन में कई तरह की समस्याएँ पैदा करता रहता है, सामाजिक कुरीति-रिवाजों की सर्जना भी करता रहता है। आत्मानन्द से विपरीत होने वाली सारी की सारी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ प्रेय मार्ग की कोटि में आती हैं।

श्रेय मार्ग-आध्यात्मिकता, प्रेय मार्ग-भौतिकता

श्रेय मार्ग को ही कवि ने अध्यात्म रूप में तथा प्रेय मार्ग को भौतिक रूप में प्रस्तुत किया है। श्रेयांस प्रभु ने अन्तर पथ पर चलकर आत्म-स्वरूप का अन्वेषण करते हुए राग-द्वेष को पूर्णतया विजित कर अध्यात्म पद को प्राप्त किया तथा सहज रूप से मुक्त गति (पंचमी गति) को प्राप्त कर लिया। यह परम सुख की अनुभूति श्रेय मार्ग पर चलने पर ही हो पाती है।

कई साधक श्रेय मार्ग का नाम लेकर भी उस पथ पर नहीं चलते हुए प्रेय मार्ग पर प्रवृत्ति करने लगते हैं। ऐसे साधकों की ओर इंगित करते हुए कवि ने कहा है—

l ; y l d kjh bflnz jkehA

अर्थात्— जो साधक ऐन्द्रिक विषयों के लोलुपी हैं, भौतिक सुख-सुविधाओं में आसक्त हैं, वे आतमरामी न होकर इन्द्रियरामी हैं, वे श्रेय मार्ग के राही न होकर प्रेय मार्ग के पथिक हैं। श्रेय मार्ग का पथिक कौन हो सकता है, इसके लिए कवि ने इंगित किया है—

efu x.k vkrejkeh jA

अर्थात्— जो साधक संसारी विषयों से सर्वथा विमुख हैं, ऐन्द्रिक विषयों के प्रति निरासक्त हैं। दशविध श्रमण धर्म के अनुपालन में तन्मय हैं। अदीन भाव से आत्म-साधना में रत हैं, वे ही साधक सच्चे अर्थों में श्रेय मार्ग

के पथिक हैं। सुज्ञ बन्धुओ! आतमरामी की व्याख्या करते हुए कवि ने फिर कहा है—

ef; i .ks ts vkrejkeh rsdoy fu"dkh jA

अर्थात्— मुख्य रूप से वे ही आतमरामी होते हैं जो संसार की सारी ही वैषयिक कामनाओं एवं लालसाओं से दूर हों। साधुत्व अवस्था में रहकर भी जो साधक वैषयिक लालसाओं में लिप्त हैं, प्रबल काषायिक भावनाओं से भरे हैं, वे प्रेय मार्ग के राही हैं, किन्तु संसारी अवस्था के बीच रहने वाले मानव यदि ऐन्द्रिक विषयासक्ति से उपरत हैं, काषायिक प्रबल भावनाओं से परे हैं या फिर ऐन्द्रिक विषयों से उपरत होने की ओर गतिशील हैं, जीवन समीक्षण की ओर जिनकी गति है, वे श्रेय मार्ग के राही हैं।

प्रेय मार्ग से आत्मा का भारीपन

जयन्ती श्रमणोपासिका के गुरुत्व-लघुत्व सम्बन्धी प्रश्न के द्वारा भी श्रेय और प्रेय मार्ग का स्पष्टीकरण हो जाता है, भगवती सूत्र के बारहवें शतक के द्वितीय उद्देशक में जयन्ती श्रमणोपासिका का वर्णन आता है। आत्म जागरण के लिए उसने भगवान् से अनेक प्रश्न पूछे थे, उनमें से एक प्रश्न यह भी था—

dg.kalkrA tho x#; Ulag0oekxPNAr

t; Urh! ik.kbok, .katko fePNk na .k l Byska

, oa [kyq thok x#; Uka g0oekxPNArA

हे भगवान्! जीव किस कारण से गुरुत्व भाव को प्रकट करता है? जयन्ती श्रमणोपासिका के इस प्रश्न का भगवान् ने समाधान दिया— जयन्ती! जीव प्राणातिपात से लेकर मिथ्या दर्शन शल्य तक के अट्टारह पाप कर्मों के गहित आचरण से गुरुत्व अर्थात् भारीपन को प्राप्त करते हैं। ऐसे भारीपन को प्राप्त करता हुआ वह जीव चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

प्रभु ने आत्मा के भारी होने के कारण अट्टारह पाप बतलाए हैं। आप सभी को, संभव है, अट्टारह पापों के नाम तो याद होंगे ही? अगर याद न हों तो अट्टारह पापों के नाम याद कर लेना चाहिए।

अट्टारह पापों में सबसे पहला पाप प्राणातिपात बतलाया है। जीव-हिंसा द्वारा भी आत्मा कर्मों का बन्धन करती है। उस कर्म बन्धन से

आत्मा भारी बनती है। यह भारीपन आत्मा को अधःपतन की ओर ढकेल देता है। हिंसा की व्याख्या करते हुए वाचक उमास्वाति ने कहा है—

i æUk ; kxkr-i.k.kā0; i jks .kafgā ka

प्रमत्त योग से किसी के प्राणों का व्यपरोपण कर देना हिंसा है। इसी प्रकार मृषावाद—झूठ बोलने से; अदत्ता दान—चोरी करने से; मैथुन—विषय सेवन से, परिग्रह—ममत्व रखने से भी आत्मा कर्मों से भारी बनती है।

आज का धनलोलुपी व्यक्ति किस प्रकार से हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का सेवन करता हुआ धन एकत्रित कर रहा है। धनार्जन की यह वृत्ति मानव से क्या—क्या अनीति और कुकृत्य करा डालती है, मुझे इसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में तो आप लोगों की बुद्धि बहुत ही पैनी एवं तीक्ष्ण बन रही है, जहाँ सरकारी असेम्बलियों (Assembly), विधान सभा में कोई अनीति न होने पाए, इसके लिए नियम बनाए जाते हैं वहाँ आज का व्यापारी, अफसर या कोई भी धनलोलुपी व्यक्ति उन नियमों से कैसे बचा जाय और किस प्रकार धन एकत्रित किया जाय, इसके लिए अनेक गलतियाँ निकाल लेता है। आज सरकार ने किस प्रकार से नियमों का प्राकार बना रखा है, वह आपसे छिपा हुआ नहीं है। फिर भी मानव दो नम्बर के रास्तों से धन की अतृप्त लालसा को पूरी करने में जुटा हुआ है।

सुझ आत्माओ ! यह सब प्रेय मार्ग है। ऐसे मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति अपनी आत्मा को कर्मों से भारी बनाते हैं और चतुर्गति संसार में भटकते रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि पाप स्थानों की व्याख्या बहुत विस्तृत है। उन सबकी व्याख्या करने के लिए मुझे बहुत समय चाहिए। अतः अभी तो आपको संक्षिप्त में ही प्रेय एवं श्रेय मार्ग का स्वरूप बतला रहा हूँ।

श्रेय मार्ग से आत्मा का हल्कापन

जयन्ती श्रमणोपासिका ने भगवान् से जिस प्रकार आत्मा के भारीपन के विषय में प्रश्न किया उसी प्रकार आत्मा हल्की कैसे होती है ? इस विषय में भी प्रश्न किया है—

**dg.kalkrs thok ygq ūkagŋeokxPNfr **

t ; Urh! i.k.kkbok; oje.kska tkō fePNknd .k

I Yy oje.kska , oa [kyq thok ygq ūkagŋeokxPNfrA

हे भगवान् ! जीव लघुत्व भाव कैसे प्राप्त करता है? जयन्ती श्रमणोपासिका के इस प्रश्न पर भगवान् ने समाधान दिया— जयन्ती ! जीव प्राणातिपात के विरमण से यावत् मिथ्या दर्शन के विरमण से लघुत्व भाव को प्राप्त करता है।

आत्मा का मौलिक स्वभाव हल्कापन है। जिस प्रकार मोटे रूप से रुई हल्की और लोह भारी लगता है। रुई ऊपर उठने लगती और लोह नीचे गिरने लगता है। इसी प्रकार आत्मा ज्यों—ज्यों कर्मों से हल्की होती जाती है, त्यों—त्यों ऊपर उठने लगती है, क्योंकि उसका चरम लक्ष्य ऊपर की ओर है। किन्तु जब कर्मों से भारी होती जाती है त्यों—त्यों यह पतन की ओर बढ़ने लगती है। आत्मा के ऊपर उठने का स्वभाव ही उसके हल्केपन का परिचायक है। किन्तु कर्मों का भारीपन उसे संसार में रुलाता है। आत्मा को ऊपर की ओर ले जाने के लिए श्रेय मार्ग पर चलना होगा। आत्मा का समीक्षण करना होगा। श्रेय मार्ग द्वारा ही आत्मा हल्केपन को प्राप्त करती है। श्रेय मार्ग को ही अट्टारह पापों की निवृत्ति के रूप में प्रतिपादित किया है।

जो व्यक्ति “आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्” अपनी आत्मा के प्रतिकूल लगने वाला आचरण दूसरों के लिए नहीं करता है, सभी आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव रखता है, व्यवसायी कार्यों में भी कम से कम हिंसा, झूठ, चोरी आदि हो, इस विषय में सतर्कता रखता है। क्रोधादिक कषायों को दूर हटाने के लिए प्रयत्न करता है, ऐसा व्यक्ति श्रेय मार्ग पर चलता हुआ अपनी आत्मा को हल्की बनाता है, वह हल्कापन बढ़ते—बढ़ते जिस दिन परिपूर्ण हल्केपन की स्थिति में परिणत हो जाता है अर्थात् जब आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से विलग हो जाती है, तब वह परम सुख के स्थान को पा लेता है।

एक ज्वलन्त प्रश्न

प्रेय मार्ग पर चलने वाला केवल पुरुष वर्ग ही नहीं होता, हिंसा, झूठ, चोरी आदि का आचरण मात्र पुरुष ही नहीं करता, किन्तु स्त्रियाँ भी करती हैं। जब तक व्यक्ति शादी नहीं करता, तब तक एक व्यष्टि इकाई का स्वामी होता है, और जब वह शादी कर लेता है तब दाम्पत्य जीवन इकाई का रूप ले लेता है। उसी इकाई में संतानों का प्रसंग भी समाविष्ट हो जाता है, यहाँ विचारणीय विषय यह है कि ऐसे संयुक्त परिवार रूप, इकाई का स्वामी पुरुष

होता है जो दुकान पर बैठ कर जितने भी कर्म कर रहा है, पाप कर रहा है, उन पाप कर्मों का भागीदार वह व्यापारी ही है, या उनके साथ बैठने वाले पुत्र भी हैं? साथ ही, क्या उसकी धर्मपत्नी और अन्य बाल-बच्चे भी हैं जो कि उस परिवार की सदस्यता को लेकर चल रहे हैं, वे सभी भागीदार होंगे?

इधर घरेलू कार्य की दृष्टि से जो बहिनें रसोई बनाने आदि कार्य करती हैं उसमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस- इन छहों प्रकार के जीवों का हनन होता है। आज के आधुनिक साधनों के द्वारा कभी-कभी तो मनुष्य तक की हिंसा हो जाती है, इस प्रकार के हिंसात्मक कार्यों से होने वाले पाप कर्मों का भागीदार कौन होगा? क्या रसोई बनाने वाली महिला ही होगी या पुरुष वर्ग तथा परिवार से सम्बन्धित सभी व्यक्ति? इस प्रकार का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। कई अध्ययनशील व्यक्ति अन्य तर्क भी दे सकते हैं। वे दें या न दें किन्तु मैं स्वयं भी आपके नॉलेज के लिए वे तर्क भी रख देता हूँ जहाँ शास्त्र में कहा गया है—

vli kdÜkk fodÜkk ;] ngk.k ; l gk.k ; A

vli kfeÜke feÜkap] nq fVv l qi fVv vkAA

सुख और दुःख का कारण पुण्य और पाप हैं, इन पुण्य और पाप का कर्ता स्वयं आत्मा है। जो करता है, वही भरता है। जैसा करता है, वैसा भरता है।

अतः करने वाला व्यक्ति ही पाप का भागीदार बनता है। जो पाप करता ही नहीं है वह उसका भागीदार कैसे बन सकता है?

गीता में भी इसी प्रकार कहा है—

m) jnkReukRekuavkRekueol kn; rA

vkReu vReukCl/kj kReo fj i jkReuAA

हे अर्जुन! अपनी आत्मा का उद्धार तू स्वयं कर, दूसरा तुम्हारी आत्मा का उद्धार नहीं कर सकता। तेरा पतन भी तू ही करेगा, तेरा उद्धार भी तू ही करेगा। इसका तात्पर्य है कि अगर पाप तुम करोगे तो उसका फल तुम्हें ही मिलेगा। दूसरे को उस पाप का फल कैसे मिल सकता है? इन उद्धारणों से यह जिज्ञासा और प्रबल हो जाती है कि पुरुष के द्वारा व्यापारिक कार्यों में किये गए पाप का और महिला द्वारा भोजनादि पकाने के लिए किये

गये पाप का भागीदार कौन होगा? क्या व्यापारिक पाप का भागीदार पुरुष ही होगा या स्त्री और परिवार भी? क्या भोजनादि में होने वाले पाप की भागीदार महिला ही होगी या पुरुष एवं उसके परिवार के सदस्य भी?

समाधान की ओर

प्रेय मार्ग पर चलने वाले परिवार के किसी भी सदस्य द्वारा (जो परिवार से सम्बन्धित) हिंसा की जाती है उसका कुछ न कुछ अंश पारिवारिक सभी सदस्यों को मिलता है। पुरुष के द्वारा जो व्यापार में हिंसादिक पाप कर्म किये जाते हैं, उन पाप कर्मों का भाग उस परिवार की महिला एवं बच्चे-बच्चियों को भी मिलता है, क्योंकि पुरुष के द्वारा अनैतिक आचरण द्वारा किए गये धनार्जन पर मालिकी तथा उपयोग परिवार के सभी सदस्य करते हैं। इसी प्रकार महिला द्वारा भोजन आदि कार्यों में की जाने वाली हिंसा के पाप कर्म का भाग भी परिवार के सभी सदस्यों को लगता है, क्योंकि उस भोजन का उपयोग परिवार के सभी सदस्य करते हैं।

शास्त्रकारों का जो यह कथन है कि आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है, यह सच है। किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं लिया जा सकता कि स्त्री भोजनादि में जो पाप करती है उसका सारा पाप उसे ही लगेगा, पुरुष को नहीं। यदि ऐसा होगा तो फिर नौकर जो रसोई बनायेगा तो उस रसोई से होने वाली हिंसा का पाप उस नौकर को ही लगेगा। यही नहीं, बड़े-बड़े व्यवसायों में भी सभी कार्य प्रायः मुनीमजी ही किया करते हैं। सेठ तो बैठा रहता है, तब उन व्यवसायों में होने वाले हिंसात्मक आदि अनैतिक कार्यों का भागीदार मुनीम ही होना चाहिए। और यदि ऐसा है तो उनसे होने वाले धनार्जन का स्वामी भी मुनीम ही होगा। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः केवल किसी के द्वारा कुछ कर लेने मात्र से सारा का सारा पाप उस अकेले को नहीं लगता है। किन्तु जिसका कर्तृत्व, कारित्व, अनुमोदित्व भाव जितना है, उतने ही पाप का वह भागीदार होता है।

कर्ता के तीन रूप

कर्ता से क्या अर्थ लिया जाय? क्या जिस क्रिया का जो कर्ता है, वही यथार्थ में उस क्रिया का कर्ता है या करवाने वाला एवं उस क्रिया का अनुमोदन करने वाला भी उसका कर्ता है?

जिस प्रकार इंजन चलाने वाला व्यक्ति एक होता है किन्तु उसे

चलाने में गाड़ी तथा कोयला डालने वाले आदि अनेक व्यक्ति सहायक होते हैं, उस गाड़ी में बैठने वाले व्यक्ति भी उसे चलाने में सहायक होते हैं। यदि गाड़ी नहीं चलती है तो यात्रियों के मन में यह भावना आती है कि जल्दी से गाड़ी चले जिससे गन्तव्य तक शीघ्र पहुँच जाएँ। यह गाड़ी चलाने में अनुमोदन है अतः गाड़ी को चलाने वाला भी कर्ता है, गाड़ी को चलवाने वाले भी उसके कर्ता हैं और उसके अनुमोदक भी उसके कर्ता हैं।

इसी प्रकार भोजन अथवा व्यापार में होने वाली हिंसा को करने वाले उस पाप कर्म के कर्ता के रूप में हैं, उस हिंसा को कराने वाले भी, उसके करवाने वाले कर्ता के रूप में हैं, और उस हिंसा का अनुमोदन करने वाले, अनुमोदन कर्ता के रूप में हैं। अतः स्पष्ट है कि कर्ता के विविध रूप होते हैं। उन विविध रूपों के अनुसार पाप कर्मों के जीव सहभागी होते हैं।

यद्यपि रसोई बनाने वाली स्त्री है किन्तु पुरुष आर्डर देता है— रसोई शीघ्र बनाओ, मुझे दुकान जाना है। इस आर्डर से पुरुष रसोई का करवाने वाला कर्ता है। यदि रसोई जल्दी बन गई तो वह बहुत खुश होता है तब वही रसोई का अनुमोदक कर्ता बन जाता है। अतः रसोई के पाप का सम्बन्ध पुरुष के साथ भी जुड़ जाता है।

इसी प्रकार व्यापार के विषय में भी है। यद्यपि व्यापार पुरुष करता है, किन्तु बहिनें यह चाहती हैं कि मेरे पतिदेव दुकान पर बैठें और खूब धनोपार्जन करें। मेरे लिए अच्छे जेवर, सुन्दर बंगला और आधुनिक डिजाइनदार साड़ियां खरीद कर दें, इस भावना से वह व्यापार को कराने वाली कर्ता बनती है, यदि पुरुष कमाकर उसकी आवश्यकता पूर्ति कर देता है तो वह व्यापार की अनुमोदक कर्ता बनती है। इस प्रकार व्यापारिक हिंसा में पुरुष के साथ स्त्री भी सहभागी होती है।

अतः स्पष्ट है कि पाप करने वाला कोई भी हो किन्तु उससे सम्बन्धित सभी व्यक्ति उस पाप के सहभागी होते हैं।

प्रेय मार्ग की प्रेरिका

कभी—कभी महिलाएँ पुरुषों को प्रेय मार्ग की ओर ढकेल देती हैं। उनकी हर मांग पूरी होनी चाहिए। पुरुषों को कितना ही अन्याय, अत्याचार करना पड़े पर उसको तो डिजाइनदार साड़ियां चाहिए, गहने चाहिए।

पुरुष को कम्पनी सरकार का आर्डर मानना ही पड़ता है। आज के

व्यक्ति सरकार के आदेशों को तो टुकरा भी सकते हैं, उनके लिए कई गलियां भी निकाल लेते हैं किन्तु कम्पनी सरकार के आर्डर में कोई गली नहीं निकल पाती। उसका तो पालन करना ही पड़ता है, इस प्रकार की महिलाएँ स्वयं ही अधःपतन के गर्त में गिरती हैं और अपने पति को भी गर्त में गिराती हैं।

ऐसी महिलाओं की रुचि धर्म कार्यों में होते हुए भी उनके मस्तिष्क में भौतिक तत्त्वों का आकर्षण अधिक होता है।

एक रूपक— एक बार स्व. ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म. सा. एवं स्व. शांत क्रान्ति के जन्मदाता युवाचार्यश्री गणेशीलालजी म.सा. साथ ही किसी गांव में विराज रहे थे। भिक्षाचर्या के लिए स्वयं युवाचार्यश्री गणेशीलालजी म.सा. पधारे। भ्रमण करते—करते वे एक श्रेष्ठी के घर में पधारे। गोचरी करने के पश्चात् गुरुदेव ने श्राविका को व्याख्यान में आने की प्रेरणा दी। गुरुदेव की बात सुन कर श्राविका बोली— गुरुदेव मेरी तो आने की बहुत इच्छा रहती है किन्तु आपके श्रावकजी आने नहीं देते।

गुरुदेव ने श्रावकजी की ओर देखा तो वे बोल उठे— गुरुदेव! इससे पूछिये तो सही मैंने इसे व्याख्यान श्रवणार्थ जाने के लिए कब इन्कारी की है? हमारे तो महान् पुण्य का उदय हुआ है कि क्रान्तिकारी आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. हमारे गांव में पधारे हैं। उनकी पीयूष वर्षिणी वाणी प्रवाहित हो रही है। अतः मेरा इनकार करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। इन दोनों की बातों को सुनकर गुरुदेव असमंजस में पड़ गये। सोचा— किस की बात सच है, दोनों ही सामने खड़े हैं। गुरुदेव को विचार में पड़े देख सेठानी बोली— गुरुदेव, श्रावकजी का कहना उचित है। ये इस प्रकार तो मना नहीं करते। बात यह है कि मेरे सोने की चूड़ी की टीप टूट गई है, मैंने इन्हें कहा— आप इसे जुड़ा कर दीजिए किन्तु यह जुड़ा कर लाते नहीं हैं, तो मैं सोने की चूड़ी पहने बिना व्याख्यान में कैसे आऊँ? सेठानी की बात सुनकर गुरुदेव सोचने लगे— अहो! कितनी नासमझ बहन है, इसे धार्मिक जैसे श्रेय कार्यों में भी प्रेय वस्तु की आसक्ति बाधक बन रही है। व्याख्यान श्रवण और सोने की चूड़ी में क्या सम्बन्ध? किन्तु इस बहन की दृष्टि में व्याख्यान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सोने की चूड़ी है। गुरुदेव तो उसे अल्प शब्दों में उद्बोधन देकर अपने स्थान पधार गए।

सज्जनो! क्या बाइयों को सोने की चूड़ी पहनना आवश्यक है?

पोशाक सजाकर व्याख्यान स्थल पर जाना उचित है ? आज के युग में फैशनेबिल चीजें, सोने की चूड़ियाँ, जंजीरें पहिनकर न तो बाजार में जाना ही उचित है और न ही व्याख्यान स्थल पर। कितना अच्छा हो कि ये बहिनें श्रेय मार्ग को समझें और प्रेय मार्ग से मोड़ खायें। व्याख्यान स्थल पर आएँ तो सीधी-सादी पोशाक का विवेक रखें। जेवर पहिनने का मोह नहीं रखना चाहिए। इससे मुक्ति नहीं मिलेगी और अधिक कर्मों का बन्धन होगा।

जो बहिनें व्याख्यान में बढ़िया कपड़े एवं जेवर पहिनकर जाती हैं, वे जाकर बहनों के बीच में बैठेंगी और अपने गहनों, कपड़ों को निरखती रहेंगी। समीपस्थ बहिनों का ध्यान भी उसी तरफ जायेगा। उन बहनों के मन में भी ईर्ष्या भाव जाग्रत होगा, वे भी वैसे गहने पाने के लिए आर्तध्यान करने लगेंगी। व्याख्यान श्रवण का लाभ नहीं उठा पायेंगी। ऐसे अवसर पर बहिनें श्रेय मार्ग पर न बढ़कर प्रेय मार्ग की ओर बढ़ जाती हैं। धर्मी बहनें, इस फैशन को छोड़ें। आचार्य भगवन् फरमाते थे—

“फैशन से फांसी और सादगी की आजादी” इस फैशन से कितनी ही आत्माएँ कर्मों से दबती जा रही हैं, प्रेय मार्ग की ओर बढ़ रही हैं।

आप लोगों के हाथ में अच्छा अवसर आया है— प्रेय मार्ग से हट कर श्रेय मार्ग की ओर आने का। ऐसे अवसर को हाथ से न जानें दें।

क्रमशः.....



10

समीक्षण श्रेय और प्रेय का (२)

- ☛ राह कौन सी— श्रेय या प्रेय की
- ☛ श्रेय मार्ग की प्रेरिका
- ☛ झूठा अभिमान वकील सा. का
- ☛ विपरीत परिणाम पत्नी पर
- ☛ पत्नी से परिवर्तन पति में
- ☛ प्रेय मार्ग और दहेज
- ☛ श्रेय मार्ग और धनोपार्जन
- ☛ छोटी बहू का श्रेय कार्य
- ☛ पाँच स्वर्ण मुद्राएँ

अब तक आपके समक्ष श्रेय-प्रेय मार्ग की स्वरूप व्याख्या के साथ प्रेय मार्ग का कुछ स्पष्टीकरण भी आ चुका है। प्रेय मार्ग में प्रवृत्ति जहां मानव को अवनति की ओर ले जाती है तो श्रेय मार्ग की प्रवृत्ति मानव को उन्नति की ओर ले जाती है। श्रेय मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले मानव की दृष्टि भौतिकता से हट कर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होती है। उनका लक्ष्य जड़ पदार्थ न होकर आत्मान्वेषण होता है। ऐसे साधकों को कवि ने आत्मरामी कहा है। आत्मरामी साधक समीक्षण दृष्टि द्वारा श्रेय मार्ग प्रवृत्ति करता हुआ अन्ततः परम सुख को प्राप्त कर लेता है।

राह कौन सी-श्रेय या प्रेय की

गृहस्थ जीवन को एकान्ततः प्रेय मार्ग का राही नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ जीवन में रह कर भी कई व्यक्ति श्रेय मार्ग के राही बन जाते हैं। आचारांग सूत्र में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र आया है—

tsvkl ok rsifj| 0ok| tsifj| 0ok rsvkl okA

जो आश्रव के स्थान हैं वे निर्जरा के स्थान बन जाते हैं और निर्जरा के स्थान भी आश्रव के स्थान बन जाते हैं। अतः मुनि वेष में रहते हुए जीवन को एकान्ततः श्रेय मार्ग और गृहस्थ जीवन को एकान्ततः प्रेय मार्ग नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ जीवन में रह कर के भी कई भव्यात्माएं देशतः समीक्षण ध्यान द्वारा आत्मोत्थान में प्रवृत्ति करती हुई श्रेय मार्ग की राही बन जाती हैं।

किन्तु गृहस्थ जीवन की गाड़ी भी पति और पत्नी के द्वारा चलती है।

अतः दोनों के विचारों में समीकरण होना आवश्यक है। यदि दोनों के विचार भौतिकतापरक होंगे, तो वे प्रेय मार्ग की ओर मुड़ जायेंगे और यदि आध्यात्मिकता परक होंगे तो वे श्रेय मार्ग के राही बन जायेंगे। अभी मैंने आपको गणेशाचार्य के जीवन का संस्मरण सुनाया था। वह सेठानी श्रेय मार्ग में जाने की इच्छा रखते हुए भी भौतिक तत्त्वों का आकर्षण उसके लिए बाधक बन रहा था। यदि कोई बहिन श्रेय मार्ग की अनुगामिनी है तो वह अपने प्रेय मार्गगामी पति को श्रेय मार्ग का राही बना देगी। जहां बहिनें पति को प्रेय मार्ग का राही बना सकती हैं, वहाँ बहिनें पति को श्रेय मार्ग का राही भी बना सकती हैं। ऐसी ही घटना मैं आपको सुनाता हूँ— जिसके द्वारा आपको ज्ञात हो सकेगा कि श्रेय-मार्गानुगामिनी धर्मपत्नी अपने प्रेय मार्गानुगामी पति को श्रेयानुगामी कैसे बनाती है।

श्रेय मार्ग की प्रेरिका

एक बहुत बड़े वकील थे, जिनकी प्रतिभा बहुत तीक्ष्ण थी। मुकदमों में किस प्रकार दाव-पेच करके अपने पक्ष को जिताना— वे अच्छी तरह जानते थे। गलत केस भी यदि उनके हाथों आ जाता तो वे उसे भी अपने बुद्धि बल के द्वारा न्यायालय में सही प्रमाणित कर देते। एक बार की घटना है कि उनके पास एक ऐसा केस आया कि एक भाई को सामने वाले व्यक्ति को पचास हजार रुपये देने थे और वह देने की स्थिति में नहीं था, सामने वाले ने उस पर केस (दावा) कर दिया, उस व्यक्ति ने भी अपने पक्ष को रखने के लिए इन वकील सा. को अपना वकील बना लिया। वकील सा. यह अच्छी तरह जानते थे कि जिसका केस मैंने लिया है उसे सामने वाले व्यक्ति को पचास हजार रुपये देने हैं, किन्तु केस जब वकील सा. ने अपने हाथ में ले लिया तो ऐसे झूठे केस को भी जिताने के लिए अपनी बुद्धि की दौड़ लगाने लगे। आखिर उन्होंने अपने पक्ष को जिता ही दिया। जिताया ही नहीं अपितु उसको उसे पचास हजार रुपये देने थे उसे देने की बात दूर रही, उससे पचास हजार रुपये लेने निकलवा दिये। देखिये, आज के कोर्ट का न्याय। जहाँ दूध का दूध और पानी का पानी होना चाहिए, वहाँ ऐसे वकीलों के परिणामस्वरूप आज कैसे अन्धकारमय निर्णय सामने आते हैं, जहाँ दुःख का मारा व्यक्ति अपना न्याय लेने के लिए न्यायालय में आए और उसकी ऐसी स्थिति बने तो उसके दिल पर क्या बीतती है? आज तो कई सुज्ञ व्यक्ति अपनी हानि सहन कर लेते हैं, किन्तु कोर्ट में लड़ने नहीं जाते। वकील साहब तो केस जीत लेने के कारण बहुत प्रसन्न हो रहे थे, मन ही मन फूले नहीं समा रहे थे। जीत की खुशी से उन्मत्त होते हुए वे घर पर पहुँचे। भोजन करने के लिए बैसे ही थे और उनकी धर्मपत्नी भोजन परोस रही थी कि इतने में ही जिस पक्ष को उन्होंने जिताया था, उस पक्ष का व्यक्ति बहुत खुश होता हुआ वहाँ आ पहुँचा और दस हजार रुपयों के नोट वकील साहब को लेने के लिए आग्रह करने लगा।

झूठा अभिमान वकील साहब का

वकील साहब समझ गये, मैंने इसके पक्ष को जिताया उसी के फलस्वरूप यह दस हजार रुपये देने का आग्रह कर रहा है, लेकिन मेरे इस बुद्धि के चमत्कार को मेरी पत्नी कैसे जानेगी, मैं अपने मुँह से कहीं इसकी

अपेक्षा इसके मुँह से कहलाऊँ तो ज्यादा अच्छा होगा। यह सोच कर वकील साहब तिरछी नजर से उसे देखते हुए बोले “यह रुपये किस बात के हैं?” इस पर वह व्यक्ति हाथ जोड़ कर विनम्रता के साथ बोला— वकील सा. यह रुपये आपके बुद्धि बल के चमत्कार के परिणाम हैं। आपने कोर्ट में वह चमत्कार दिखाया कि जिससे मेरा असत्य पक्ष भी, सही साबित हो गया। मुझे जो सामने वाले व्यक्ति के पचास हजार रुपये देने थे, उसके बदले आपने पचास हजार रुपये और दिलवाये, इस प्रकार मुझे एक लाख रुपये की आमदनी करवा दी। इतने रुपये तो मैं नहीं दे सकता किन्तु आपकी फीस के दस हजार रुपये दे रहा हूँ।

विपरीत परिणाम पत्नी पर

वकील सा. सोच रहे थे कि इस व्यक्ति की बात सुनकर मेरी पत्नी बहुत खुश होगी और कहेगी कि बहुत अच्छा किया आपने, मैं आपकी बुद्धि की दाद देती हूँ, अब मेरे बहुत जेवर और पोशाक बन जाएँगे। अपने ही विचारों में खोए वकील सा. ने ज्यों ही अपनी धर्मपत्नी की ओर देखा तो उनके विचारों पर कुठाराघात हो गया। उनकी सारी भावनाओं पर पानी फिर गया। पत्नी के खुश होने की बात तो दूर रही। उसकी आँखों में धर-धर आँसू आ रहे थे।

वकील साहब की तो सारी प्रसन्नता ही कहीं गायब हो गई। वे सहमते हुए पत्नी से बोले— अरे, तुम रो क्यों रही हो? लो ये दस हजार रुपये मैं तुम्हें दे देता हूँ। इनसे तुम जो चाहो सो बनवा लेना। इसके अतिरिक्त भी जो तुम्हारी इच्छा होगी सो भी पूरी कर दूंगा, लेकिन तुम रोती क्यों हो?

पत्नी से परिवर्तन पति में

पत्नी का रोना इसलिए तो था नहीं कि उसे रुपये चाहिए, उसकी आत्मा तो इसलिए कराह रही थी कि अहो ! कितना घोर अन्याय हो रहा है। जिस कोर्ट से न्याय की अपेक्षा रखी जाती है उसी कोर्ट में यह घोरतम अन्याय और वह भी मेरे पति द्वारा, तुच्छ रुपयों के लिये। वह बोल उठी पति से— मुझे नहीं चाहिए ऐसा रुपया और न ही मुझे ऐसी कोई भी फैशनेबल साड़ी या जेवर ही चाहिए। मैं एक पोशाक से भी अपनी गुजर कर सकती हूँ किन्तु मुझे अनीति का एक पैसा भी नहीं चाहिए। ईमानदारी का तकाजा था कि आप इस व्यक्ति से पचास हजार रुपये सामने वाले को दिलवाकर

सही इन्साफ करवाते। लेकिन आपने पचास हजार रुपये उसे दिलवाने की बात तो दूर रही बल्कि उससे पचास हजार रुपये और निकलवा लिये। क्या आपने सोचा कि जिसके एक लाख का घाटा हुआ उसका कितना कलेजा टूटा होगा? कलम और बुद्धि से होने वाली कितनी क्रूर हिंसा है यहाँ। ऐसे कृत्यों से भारी कर्मों का बन्धन होता है।

मैं आपकी धर्मपत्नी और आप मेरे पति, अतः मेरे पति ऐसे हिंसाकारी कार्यों से उपरत होकर ऊपर उठें। न्याय और नीति से वित्तोपार्जन करें जिससे यह जीवन भी सुखी बने और पर जीवन भी सुखमय बन सके। अतः मेरा तो आपसे यही निवेदन है कि आप इस प्रकार के अनीतिपूर्ण कार्यों को छोड़ें। ऐसे धन की अपेक्षा सीधा और सात्विक जीवन जीना बहुत उत्तम है।

पत्नी की मानवीय भावना और आध्यात्मिक जीवन का प्रभाव वकील सा. पर भी गहरा पड़ा। वे भी सोचने लगे— जब पत्नी भी अनीतिपूर्ण धन को नहीं चाहती है तो फिर इसे रख कर क्या करना है?

वकील सा. ने उस भाई से कहा— यह रुपये तुम वापिस ले जाओ। मेरी पत्नी इस प्रकार के अनीतिपूर्ण धन को रखना बिल्कुल पसन्द नहीं करती। तुम्हें भी जो पचास हजार रुपये और आए हैं, उन्हें तो वापस सामने वाले व्यक्ति को देने पड़ेंगे।

देखिये बहिन की धार्मिक भावना। समीक्षण दृष्टि के अभ्यास ने क्या चमत्कार बताया, प्रेय मार्ग की ओर बढ़ने वाले अपने पति को भी श्रेय मार्ग की ओर लगा दिया। ऐसी शक्ति भी बहिनों में होती है, वह अनीतियुक्त कार्यों में लगे अपने पति को धर्म की ओर लगा सकती हैं, ऐसी ही बहिनें श्रेय मार्ग की प्रेरिका बन जाती हैं।

प्रेय मार्ग और दहेज

वर्तमान युग में कितनी कुप्रथाएं, कुरीतियाँ चल रही हैं। दहेज—प्रथा के भूत ने सारे समाज में आतंक फैला रखा है। दहेज की वेदी पर कई कुंवारी बहिनों ने अपना बलिदान दे दिया है, तो कई नव—विवाहित बहिनों को अपना होम करना पड़ा है। शिष्ट कहलाने वाला समाज भी दहेज प्रथा से अछूता नहीं है। बाहरी प्लेटफार्म पर दहेज का विरोध करने वाले बहुत मिलते हैं, सामाजिक मीटिंगों में लम्बे—चौड़े भाषण देने वाले भी बहुतेरे हैं। किन्तु जब विरोध करने वाले भी कई व्यक्तियों के समक्ष स्वयं के लड़के के सम्बन्ध का

प्रसंग आएगा तो दहेज लेने से नहीं चूकेंगे। ऊपरी तौर पर तो यह प्रदर्शन करते रहते हैं कि हम दहेज नहीं मांगते, देने वाला अपनी बेटी को देता है, लाख दे चाहे करोड़, हमें उससे कोई मतलब नहीं है। हमें तो लड़की गुणवान चाहिए। ऐसे बोलने वाले व्यक्ति भी प्रकारान्तर से मांगने में नहीं चूकते हैं। मेरे कानों में ऐसे भी शब्द पड़ते हैं कि कई लड़कों के पिता ऐसा कहते हैं— “साहब पहले अमुक शहर के व्यक्ति आए थे, वे इतना देने को कह गए थे”। इसका तात्पर्य इससे कम तो आप क्या देंगे? इसी प्रकार के अन्य तरीकों के द्वारा भी दहेज की मांग की जाती है। यह कुप्रथा समाज के लिए एक भयंकर अभिशाप बनी हुई है।

जिन-धर्म के उपासक कहलाने वाले जैनी, जो कि छोटे से छोटे जन्तु को भी मारने में हिचकते हैं, ऐसे अहिंसक व्यक्ति यदि दहेज-प्रथा के रोग से ग्रस्त हैं तो वे सच्ची तरह से अहिंसा की उपासना नहीं कर सकते।

आप सभी श्रेय मार्ग के राही बनना चाहते हों तो प्रेय मार्ग को सबल बनाने वाली इस कुप्रथा को त्याग देना चाहिए। बिना सत्पुरुषार्थ के उपार्जित किया गया धन जल्दी से पच नहीं सकता, व्यक्ति को कभी भी परमुखापेक्षी नहीं होना चाहिए।

श्रेय मार्ग और धनोपार्जन

न्याय और नीति से उपार्जित किया गया थोड़ा-सा धन भी बहुत लाभदायक होता है। अनीति से उपार्जित करोड़ों का धन भी शान्ति देने वाला नहीं बनता। आज के युग में प्रायः लोगों का यह दृष्टिकोण बना हुआ है कि किसी भी रीति से धन का उपार्जन करना चाहिए। और परिणामस्वरूप आपको देखने को मिलेगा कि करोड़ों की सम्पत्ति वाले भी तनावग्रस्त हैं, उन्हें भी शान्ति नहीं है। इसमें मूल कारण यह भी है कि उपार्जित धन नीति का नहीं है।

श्रेय मार्ग का राही बनने वाले साधक को नीति से उपार्जित धन का उपयोग करना चाहिए। नीति से उपार्जित धन से कैसा श्रेय होता है। इसके लिए मैं आपको एक घटना सुना देता हूँ।

एक गांव में अंगदत्त नाम का एक श्रेष्ठी रहता था, उसके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी, उसके चार पुत्र थे। उन चारों पुत्रों का विवाह

भी योग्य कन्याओं के साथ कर दिया था। सभी प्रकार से सम्पन्न था वह किन्तु यह सम्पन्नता अधिक दिनों तक नहीं टिक पाई। कुछ ऐसा उतार आया कि उसकी सम्पन्नता विपन्नता में परिणत होने लगी। विपन्नता भी इस तरीके की आई कि जीवन निर्वाह करना भी मुश्किल होने लगा। सेठआई में फैशन के जो तौर-तरीके अपनाए थे, अब उनका निर्वाह करना मुश्किल हो गया।

ऐसी विकट परिस्थितियों में भी सेठ अपनी फैशनपरस्ती को नहीं छोड़ना चाहते थे। उसका निर्वाह करने के लिए वे छल-कपट, अनीति के द्वारा धन का उपार्जन करने लगे।

छोटी बहू का श्रेय कार्य

श्रेष्ठी के व्यापार करने के तौर-तरीके जब उसकी छोटी पुत्रवधू मदन मंजरी को ज्ञात हुये तो उसे यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। जब उसके पति घर पर आये तो उसने उन्हीं से प्रश्न कर लिया— पतिदेव! आजकल व्यापार का रंग-ढंग किस प्रकार चल रहा है? पति ने कहा— प्रिये! क्या कहूँ, आजकल बड़ी विकट स्थिति है, पिताजी की पोजीशन घट गयी है, धन-सम्पत्ति के मद में जो फिजूल के रीति-रिवाज चालू किए थे, आज वे दुःखदायी बन गये हैं। हमने कुआं खोदा और हम ही गिर रहे हैं। ऐसी स्थिति में अपनी इज्जत को बनाए रखने के प्रयास में सभी प्रकार का व्यापार करके, किसी भी प्रकार से धन कमाने में लगे हुए हैं।

इस बात को सुनकर मदन मंजरी बोली— पतिदेव! यह क्या हो रहा है? इस झूठी इज्जत के पीछे इस प्रकार अनीति पर चलेंगे तो इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जायेंगे। मुझे नहीं चाहिए, धन-दौलत। मैं एक सफेद साड़ी में तथा टूटी-फूटी झॉपड़ी में दिन काट सकती हूँ। लेकिन इस प्रकार का अनीतिपूर्ण व्यापार नहीं होना चाहिए।

पति बोले— प्रिय! इसे मैं कैसे रोक सकता हूँ, यह सब काम पिताजी के हैं। वे ही इसे रोक भी सकते हैं। आप उन्हें मना कर दीजिए कि वे इस प्रकार से व्यापार नहीं करें— मदन मंजरी ने पति से कहा। तब वे बोले, नहीं, मैं तो पिताजी को नहीं कह सकता, मैं उन्हें कहूँ और वे मुझे डाट दें तब क्या करूँ?

पतिदेव का साहस नहीं देखा तो मदन मंजरी स्वयं ही श्वसुरजी को

कहने के लिए तत्पर हो गई। देखिए बहिन का साहस। क्या भावना थी उसमें धर्म और नीति की। कहां आज का युग! किसे परवाह, पति कैसे व्यापार कर रहे हैं, नीति से कमा रहे हैं या अनीति से। किसी भी प्रकार कमाएं, बस हमारी तो आवश्यकता पूर्ति होनी चाहिए।

मदन मंजरी ने साहस किया और वह श्वसुरजी के पास पहुंच कर बहुत विनम्र शब्दों में निवेदन करने लगी— पिताश्री (श्वसुरजी) आजकल का व्यापार किस रीति—नीति से चल रहा है? पुत्रवधू के मुँह से यह प्रश्न सुनकर श्रेष्ठी अंगदत्त कुछ चौंके— सोचने लगे, इसे क्या मालूम कि अभी व्यापार किस प्रकार चल रहा है।

सेठजी कुछ गम्भीर होकर बोले— पुत्रवधू, क्या बताऊँ? इस समय धनोपार्जन की विकट समस्या आ खड़ी हुई है, रीति—नीति से व्यापार करने पर धनोपार्जन नहीं होता। बिना धन के घर—गृहस्थी अच्छी तरह से चल नहीं सकती, इसीलिए छल—कपट के साथ व्यापार करना पड़ता है।

बहुत ही विनम्रता के साथ मदन मंजरी बोली— पिताश्री! अनीति एवं छल—कपट द्वारा उपार्जित धन से इज्जत नहीं बचाई जा सकती, ऐसा धन कभी शांति देने वाला नहीं। मेरा तो आपसे यही निवेदन है कि आपश्री इन धन्धों को छोड़कर न्याय—नीति से व्यापार करें। न्यायोपार्जित सूखी रोटी भी शांति देने वाली बनेगी।

पुत्रवधू के विनम्र शब्दों का सेठ अंगदत्त पर प्रभाव पड़ा। उसके कथनानुसार सेठ ने घर की सीधी—सादी स्थिति बना दी, खान—पान, रहन—सहन सब सीधा—सादा कर दिया, व्यापार भी नीति और विवेक के साथ करने लगे। नीति से उपार्जित धन से घर का खर्च चलने के बाद सिर्फ पांच स्वर्ण मुद्राएं बचीं।

मदन मंजरी ने कहा— आप फिक्र न कीजिए। बस, पूर्ण नीति के साथ व्यापार करते रहिए। एक न एक दिन पुण्य कर्म का उदय होगा। सारी स्थिति पूर्ववत् हो जायेगी।

पाँच स्वर्ण मुद्राएँ

जिस नगर में श्रेष्ठी निवास करता था। उस नगर के राजकुमार को भयंकर दाहज्वर हो गया। बहुत उपचार करने पर भी उसका रोग सीमित नहीं हुआ। उसी समय एक योगी किसी अन्य नगर से वहां आ पहुँचा। उसके

कानों में जब राजकुमार के दाहज्वर की बात पड़ी तो वह अनुकम्पा भावना से, राजकुमार को बचाने के लिए राजभवन जा पहुँचा। योगी ने सम्राट से कहा— राजन्! तुम्हारे पुत्र को स्वस्थ तो मैं कर सकता हूँ किन्तु इसकी स्वस्थता के लिए बिलकुल न्याय से उपार्जित पाँच स्वर्ण—मुद्राएँ चाहिए। मैं मंत्र पढ़कर उन मुद्राओं पर पानी डालूँगा। उस पानी को राजकुमार को पिलाने पर राजकुमार स्वस्थ हो जायेगा।

सम्राट विचार में पड़ गये कि न्याय से उपार्जित धन कहाँ मिले। आखिर उन्होंने नगर में पटह बजवा दिया। मदन मंजरी ने भी पटह सुना। उसने सेठ अंगदत्त से कहा— “पिताश्री! मौका आ गया है, इस परमार्थ के काम को हाथ से न जाने दीजिए। आप ये पाँचों स्वर्ण मुद्राएँ ले जाइये और सम्राट को कह दीजिये कि ये पांच स्वर्ण मुद्राएँ न्याय से उपार्जित हैं।” सेठ अंगदत्त ने वैसा ही किया। सम्राट ने वे पाँचों स्वर्ण मुद्राएँ योगी के समक्ष रख दीं। योगी ने मंत्र जाप करना प्रारम्भ कर दिया। मंत्र जाप करके ज्यों ही स्वर्ण मुद्राओं पर पानी डाला, त्यों ही वे चमक उठीं। योगी ने वह पानी राजकुमार को पिलाया— पीते ही राजकुमार का दाहज्वर समाप्त हो गया। सारे नगर में प्रसन्नता छा गई। सम्राट ने रत्नों से भरी मंजूषा योगी को भेंट करनी चाही किन्तु योगी ने कहा— संन्यासी अकिंचन होते हैं। मैं तो यह रत्न—मंजूषा नहीं रखता। यदि आपको देना ही है तो इन सेठजी को दीजिए। इनकी स्वर्ण मुद्राओं के कारण ही राजकुमार स्वस्थ हुए हैं। सम्राट ने खुश होकर वह रत्नों की भरी मंजूषा अंगदत्त के हाथों में सौंप दी और बहुत ठाट—बाट के साथ समारोहपूर्वक उसे घर पहुँचाया। सारे नगर में उसकी ख्याति फैल गई। अब तो व्यापार भी वेग के साथ चलने लगा। सेठ अंगदत्त के पास करोड़ों की सम्पत्ति हो गई। अब उसका जीवन शांति के साथ चलने लगा। न्याय—नीति से उपार्जित धन से सारे परिवार में शांति छा गई। सारा का सारा परिवार श्रेय मार्ग का राही बन गया।

रूपक बहुत लम्बा है। संक्षेप में मेरा तो इतना ही कहना है कि श्रेयांस नाथ भगवान की प्रार्थना के माध्यम से आप श्रेय मार्ग के राही बनें। बहिनों में मदन मंजरी के समान धार्मिक भावना एवं साहस का संचार होना चाहिए। बहिनों में यदि मदन मंजरी के समान धार्मिक भावना एवं साहस आ जाय तो शीघ्र ही शांति का शुभ संचार हो सकता है।

परम शांति को पाने के जिज्ञासु आत्माओं को श्रेय मार्ग का राही बनना चाहिए। गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी सारी गतिविधि इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कम से कम हिंसा हो। मनसा, वचा, कर्मणा को यथाशक्य श्रेय मार्ग में नियोजित करना चाहिए। जीवन की हर गतिविधि में समीक्षण का संचार होना चाहिये। जो भी भव्य आत्मा श्रेय मार्ग की राही बनेगी, वह निश्चय ही एक दिन परम शांति को पा लेगी।



11

इन्द्रिय-समीक्षण

- ☛ सिद्ध और संसारी
- ☛ श्रोत इन्द्रियरामी का परिणाम
- ☛ रूपासक्ति का परिणाम
- ☛ सुगंध-दुर्गंध में आसक्ति भाव
- ☛ कटु परिणाम रसना का
- ☛ दुर्गतिकारिका स्पर्शना
- ☛ सुखाभास में सुख प्रतीति
- ☛ सुख पुद्गलों में नहीं, स्वयं में
- ☛ शक्ति को अन्तः में नियोजित करो

bfln; kbaol dkmavlik.kamol gja

—उत्तराध्ययन सूत्र-22/47

पांच इन्द्रियों को वश में करके अपनी आत्मा का उपसंहरण करना चाहिये।

इन्द्रियरामी जीव ऐन्द्रिक पदार्थों में ही सुख मानकर चलते हैं। ऐसे इन्द्रियरामी जीव कभी भी शाश्वत शांति प्राप्त नहीं कर सकते। शाश्वत शांति की प्राप्ति के लिये तो इन्द्रियों को वश में करने के साथ ही आत्मा को भी वश में करना होगा। एकेन्द्रिय में आसक्त होने पर भी प्राणी अपने जीवन का प्राणान्त कर देता है तो पाँचों इन्द्रियों में आसक्त होने पर जीवन की क्या स्थिति बनती है?

जन्म-जन्मान्तर तक वह विषयासक्त आत्मा संसार में भटकती रहती है। अतः इन्द्रियों को उत्पथगामी विषयासक्ति से हटाकर सुपथगामी आत्म जागरण की ओर नियोजित करना चाहिए।



**Jh Jş kd ftu vlrj; keh] vkrejkh ukeh jA
v/;kreer ije ikeh] lgt eDr xfr xkeh jAA
l ; y l d kjh bflnz, jkeh] efu x.k] vkrejkeh jA
e[; i.ks ts vkrejkeh] rs dby fu"dkeh jAA JhAA**

श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना से श्रेय पथ की ओर गतिशील बनने की प्रेरणा मिलती है। यद्यपि इन कड़ियों की संक्षिप्त विवेचना गत दिनों में हो चुकी है तथापि इन्हें कुछ विस्तार से समझना आवश्यक है।

सिद्ध और संसारी

जीवों के मुख्यतया दो भेद हैं— सिद्ध और संसारी। जिन आत्माओं ने कर्मों का सर्वथा प्रणाश कर दिया है, संसार के समस्त बंधनों से जो परिपूर्णतः विलग हो चुकी हैं। ऐसी आत्माएँ, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्म स्वरूप का वरण कर लेती हैं। वे आत्माएँ अध्यात्म का चरम छोर पा लेती हैं। उनके लिए अब कुछ भी करणीय अवशेष नहीं रहता है। वे आत्माएँ कृतकृत्य हो जाती हैं। किन्तु जो जीव संसारी हैं और जो भौतिक तत्त्वों में ही सुख मानकर चलते हैं, ऐन्द्रिक क्षणिक सुखों में ही जिन्हें आनन्द आता है। नैतिक या अनैतिक किसी भी प्रकार से ऐन्द्रिक सुख प्राप्त कर उसे भोगने में जो दिन-रात रहते हैं, वे जीव चार गति-चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हैं।

इन्द्रियरामी जीव ऐन्द्रिक पदार्थों में ही सुख मानकर चलते हैं। लेकिन शास्त्रकारों ने कहा है कि एक ऐन्द्रिकता पर आसक्त जीव भी अपने अमूल्य जीवन को खो बैठता है, तो जो जीव पाँचों ऐन्द्रिक विषयों में आसक्त है, उसकी दशा का तो फिर कहना ही क्या ? इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है—

bfln; kbaol dkm] vlik.kamol gja

पाँच इन्द्रियों को वश में करके अपनी आत्मा का उपसंहरण समीक्षण करना चाहिये। जो आत्मा इन्द्रियासक्त होकर पतन की ओर बढ़ रही है, उसे उत्थानोन्मुख बनाना चाहिये। इन्द्रियां पाँच प्रकार की बतलाई गई हैं—

श्रोत्रेन्द्रिय को कान, चक्षु इन्द्रिय को आँख, घ्राणेन्द्रिय को नाक, रसनेन्द्रिय को जिहवा तथा स्पर्शनेन्द्रिय को त्वचा कहा जाता है।

श्रोत्र इन्द्रियरामी का परिणाम

श्रोत्र इन्द्रिय कान में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के शब्द आते हैं। प्रशंसात्मक शब्द मन को प्रफुल्लित करने वाले होते हैं। निंदात्मक शब्द मन को अप्रसन्न करने वाले होते हैं, इन प्रशंसा और निन्दा भरे शब्दों पर होने वाला राग और द्वेष का भाव कर्म बंधन कराने वाला बन जाता है। कान के विषय में आसक्त मृग अपने जीवन को खो बैठता है। विषधर सर्प जिसके डंक मात्र से प्राणियों का वध हो जाता है, ऐसा सर्प भी कर्णन्द्रिय के वशीभूत होकर अपनी शक्ति खो देता है। जब सपेरा पुंगी बजाने लगता है, उस पुंगी की मधुर झंकार को सुनकर सर्प अपना भान भूल जाता है और झूम उठता है। बिल से निकल कर सपेरे के सामने कुंडली मारकर पुंगी के नाद में तन्मय हो जाता है। उसकी आसक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह सपेरा उसे पकड़ कर, उसके मुँह से जहर की ग्रन्थि निकाल देता है, तब भी उसे भान नहीं रहता है। यही हाल मृग-हरिण का है। जो सहज रूप से किसी की पकड़ में नहीं आ सकता। जंगलों में इधर से उधर लम्बी चौकड़ियां मारता रहता है, वह भी संगीत की मधुर ध्वनि सुनकर उसमें आसक्त हो जाता है, उस संगीत को श्रवण करने के लिये वह संगीत गायक के सामने चला जाता है और उसकी आसक्ति उसे बंधन में फंसा देती है। आज के अधिकांश मानवों का भी यही हाल है। छोटे-छोटे बच्चे भी जहां फिल्मों के अश्लील गीतों की गुंजार आ रही हो, वहां खड़े हो जाते हैं। बड़े-बड़े व्यक्ति अपने आवश्यक कामों को छोड़ कर गीतों की गूंज में आसक्त बन जाते हैं।

क्या आपने सोचा कि यह आसक्ति क्या गुल खिलायेगी? कर्णन्द्रिय पर आसक्ति जब सर्प और मृग को परतंत्र बना देती है, उनके जीवन प्रणाश का कारण बन जाती है तो उसी कर्णन्द्रिय के विषय में आसक्त इन्द्रियरामी मानव की क्या दशा होगी?

बंधुओ! यह सोचने का विषय है कि आज आपको चिन्तनशील मस्तिष्क मिला है। वीतराग वाणी श्रवण करने को मिल रही है। इसे श्रवण करके भी यदि ऐन्द्रिक सुख में फंसे रहोगे तो फिर आत्मरामी बनने का मौका कब मिलेगा?

रूपासक्ति का परिणाम

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय कान से संबंधित है तो चक्षु इन्द्रिय का विषय

□□□/नानेशवाणी-□

आँख से संबंधित है। आँख के सामने भी अच्छे और बुरे— दोनों प्रकार के रूप आते हैं। इन्द्रियरामी जीव अच्छे पर राग और बुरे पर द्वेष कर बैठता है, जो कि उसके पतन का कारण बन जाता है।

रूप के लोभी पतंगिये को आपने देखा होगा, रात्रि में जब बल्ब का तेज प्रकाश होता है तो उसे देखकर वह अज्ञानी पतंगा उस पर मोहित हो जाता है, और उसे पाने के लिये उस पर झंपापात करने लगता है। ज्योंही वह बल्ब पर गिरता है, त्योंही उसके उष्ण प्रकाश से मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ता है, कुछ क्षणों पश्चात् जब उसकी मूर्च्छा दूर होती है तो वह पुनः उसी बल्ब के प्रकाश को पाने के लिए उस पर झंपापात करता है। उस समय वह नहीं जान पाता कि इसी पर पूर्व में झंपापात किया था तथा इसकी उष्णता से मूर्च्छित होकर गिर पड़ा था। वह अज्ञानी बार-बार बल्ब पर झंपापात करके अपने जीवन से हाथ धो बैठता है।

सुझ माने जाने वाले मानव को उस पतंगिये के इस हाल पर तरस आती होगी।

सज्जनो! वह तो नासमझी के कारण से अपने जीवन को खो बैठता है पर समझदार कहलाने वाले मानव का क्या हाल हो रहा है? कहीं वह भी तो ऐसी अज्ञानता नहीं कर रहा है? रूप में आसक्त मानव भी अपना भान खो बैठता है। हित-अहित के विवेक से विकल हो उठता है। उसकी प्रतिभा कुंठित हो जाती है। रूपासक्ति उसके इसी जीवन को ही नहीं जन्म-जन्मान्तर को बरबाद कर देती है। बौद्ध धर्म के सुत्तपिटक में भी इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है—

i r k l r i T t k r feokf/k i k r d k A

f n V B s l k s b f r & g d s f u f o V B k A

जिस प्रकार पतंगे जलते प्रदीप के रूप से आकर्षित होकर, उस पर झंपापात करते हुए अपना प्राणान्त कर देते हैं, उसी प्रकार दृष्ट एवं श्रुत वस्तुओं के व्यामोह में फंसकर अज्ञ जन भी अपने जीवन का पतन कर लेते हैं। रूपासक्ति मानव को किस प्रकार पतन की ओर ढकेलती है— इसके लिए एक छोटी सी घटना है—

रूप का लोभी एक श्रेष्ठी पतंगियों की तरह ही रूप के मोहक जाल में फंसा हुआ था। उसकी दृष्टि सुन्दर से सुन्दर रूप को देखने के लिये

उत्कण्ठित रहती थी। अपनी पत्नी के रूप पर तो वह इतना अधिक आसक्त था कि उसका रूप सर्वाधिक सुन्दर मानता था। प्रायः अधिकांश समय उसका मस्तिष्क सुन्दर-सुन्दर रूपों की ही कल्पना किया करता था— मेरी पत्नी का रूप कितना सुन्दर है?

एक बार उसकी पत्नी के मुँह पर भयानक फोड़ा हो गया, जिससे उसका रूप भी विकृत बन गया। फिर भी श्रेष्ठी के मन में यह आसक्ति जमी हुई थी— मेरी पत्नी बहुत सुन्दर है। रात-दिन इन्हीं विचारों में घुलते-घुलते आयुष्य बंधन का समय आ गया। उस समय भी उसके यही विचार चल रहे थे— अहो! मेरी पत्नी कितनी रमणीय, प्रिय, सुन्दर है। इन्हीं विचारों के मध्य में श्रेष्ठी ने आयुष्य बंधन पूरा किया और मरकर अपनी पत्नी के ही फोड़े में कीड़े के रूप में जन्म लिया।

बंधुओ! सोचिये अपने-अपने दिलों में रूप के भयंकर परिणामों को। कहां तो उन्नत मानव जीवन के साथ श्रेष्ठी को भौतिक तत्त्वों की समुपलब्धि थी और कहां उसके जीवन का कितना पतन हो गया, मानव जीवन को छोड़कर एक किलबिले कीड़े के रूप में जन्म लेना पड़ा। अब श्रेष्ठी न मालूम कितने भवों तक संसार में भ्रमण करेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

रूपासक्ति मानव को कहाँ से कहाँ तक पहुँचा देती है। प्रागैतिहासिक घटनाएँ इस बात की साक्षी हैं, रावण और मणिरथ भी तो रूप में ही आसक्त हुए थे। सती सीता के रूप पर आसक्त हो रावण ने अपनी सोने की लंका जला डाली। सारी ऋद्धि और समृद्धि ही नहीं गई, अपितु अपने जीवन से भी वह हाथ धो बैठा। यही हाल मणिरथ का हुआ था। जिस छोटे भाई युगबाहु को वह इतना अधिक चाहता था कि अपने बाद राज्य का उत्तराधिकारी उसे ही घोषित किया था, किन्तु सती मदन रेखा के रूप को देखकर मणिरथ बेभान हो गया। उसके हृदय में रूपासक्ति की ऐसी विस्फोटक आग सुलग गई थी, जिस आग को बुझाने के लिए रूपासक्त मणिरथ ने अपने प्रिय भाई को भी छल-बल के द्वारा खत्म कर डाला। इतने पर भी रूपासक्ति की आग शांत न हो पाई। अन्ततः उस आग ने स्वयं मणिरथ को ही खत्म कर डाला। इतिहास ऐसी एक नहीं अनेक घटनाओं से भरा पड़ा है।

सुगंध-दुर्गंध में आसक्ति भाव

चक्षु इन्द्रिय के बाद तीसरी इन्द्रिय घ्राण है। यह इन्द्रिय गंध से

सम्बन्धित है। पुद्गलों के परिवर्तन से कोई पदार्थ सुगंध के रूप में तो कोई पदार्थ दुर्गन्ध के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। सुगन्धित पदार्थों में ऐन्द्रिक रमण संसार को बढ़ाने वाला होता है, दुर्गन्धित पदार्थों पर घृणा भी आत्मा के पतन का कारण बनती है।

संसार के समस्त पौद्गलिक पदार्थ परिवर्तनशील हैं। पुद्गलों के परिवर्तन से सुगंध दुर्गन्धमय और दुर्गन्ध सुगन्धमय हो जाती है। अज्ञ मानव इस पौद्गलिक परिवर्तन के तथ्य को न समझकर सुगन्धित पुद्गलों में आसक्त बन जाता है, यह आसक्ति भाव भी उसके जीवन को खत्म करने वाला बन जाता है। घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर कस्तूरी मृग कस्तूरी की सुगंध में आसक्त होकर जंगल में इधर से उधर दौड़ लगाता हुआ अपने जीवन से हाथ धो बैठता है।

कटु परिणाम रसना का

जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर मानव खाद्य-अखाद्य के विवेक को न रखता हुआ, अभक्ष्य पदार्थों को भी खा बैठता है। जहाँ मानवों का आहार शाकाहार होना चाहिए वहाँ आज देश में मांसाहार का कितना तेजी से प्रचार-प्रसार हो रहा है। अण्डे जैसे मांसाहारी तत्त्व को भी शाकाहार बतलाकर लोगों को खिलाने का प्रयास किया जा रहा है। अण्डे निश्चित रूप से मांसाहार हैं (इसकी विवेचना समय पर करने का भाव है)। जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर ऐसे अभक्ष्य पदार्थ को खाने वाले अपने जीवन को पतन के अंधकूप में ढकेल देते हैं।

सही माने में सोचा जाय तो मानव का आहार मांस नहीं है। आपने कभी सुना या देखा होगा कि डाक्टर लोग जब किसी मरीज को खून की बोटल चढ़ाने लगते हैं तब सबसे पहले उसके खून की जांच की जाती है। मरीज के शरीर में रहा हुआ रक्त और उसे दिये जाने वाले रक्त का मिलान हो जाय, तब ही उसे रक्त चढ़ाया जाता है। यदि रक्त का मिलान न होने पर रक्त दे दिया जाय तो वह घातक परिणाम उपस्थित कर देता है।

सज्जनो ! विचार करने की बात है कि जब मानव के रक्त का भी मिलान आवश्यक है तो जो पशुओं का मांस है, क्या वह बेमेल मांस मानव के लिये घातक सिद्ध न होगा? मांसाहार परलोक में तो हानिकारक होता ही है किन्तु इस जीवन के लिये भी घातक सिद्ध होता है। सिद्धान्त की दृष्टि

से मांसाहार नरक का हेतु बतलाया गया है।

जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर व्यक्ति अपने जीवन को किस प्रकार खो बैठता है, इसके लिए एक शास्त्रीय रूपक है—

एक सम्राट् के शरीर में भयंकर रोग पैदा हो गया। अनुभवी चिकित्सकों ने उनका इलाज प्रारम्भ किया। सही तरीके से इलाज होने पर सम्राट् का भयंकर रोग भी समाप्त हो गया। सम्राट् स्वस्थ हो गये। चिकित्सकों ने सम्राट् को यह स्पष्ट हिदायत दी— आपको अगर स्वस्थ रहना है तो आप कभी भी आम्रफल का सेवन न करें। आम्रफल आपके लिये अपथ्य है। जिस दिन भी आपने आम्रफल खा लिया तो उत्पन्न हुए रोग का कोई इलाज नहीं होगा। सम्राट् ने चिकित्सकों की बात ध्यान से सुनी और मन में यह निर्णय किया कि मैं अब कभी भी आम नहीं खाऊँगा।

अपथ्य तत्त्व के न खाने से सम्राट् की स्वस्थता बढ़ने लगी। सम्राट् का जीवन शांति से व्यतीत होने लगा। बहुत वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन सम्राट् अपने प्रधान को साथ लेकर जंगल में भ्रमण करने के लिये निकले। घूमते-घूमते जब वे थक गए, तो विश्रान्ति के लिये किसी वृक्ष की छाया में बैठने लगे। संयोगवश वह वृक्ष आम का ही था। आम्रवृक्ष को देख कर मंत्री ने कहा— राजन्! अपने को इस वृक्ष की छाया में नहीं बैठना है, हम दूसरे वृक्ष की छाया में चलें।

सम्राट् ने कहा— वृक्ष की छाया में बैठने में क्या होता है। वैद्यों ने तो आम खाने से मना किया है, छाया में बैठने को तो नहीं। राजा उसी वृक्ष के नीचे बैठ गया, मंत्री भी राजा के साथ वहीं बैठ गया। कुछ समय के बाद राजा की दृष्टि वृक्ष पर लटक रहे, सुन्दर—सुन्दर, भीनी—भीनी सुगंध देने वाले आम्रफलों पर पड़ी।

राजा ने कहा— देखो मंत्रीवर! कितने सुगंधित व सुन्दल फल हैं, कितने सुस्वाद व मधुर होंगे ये फल?

मंत्री ने कहा— राजन्! कुछ भी हो, आपके लिये तो ये अपथ्य हैं, आपको तो मन में भी इन्हें खाने की बात नहीं सोचनी चाहिये। किन्तु राजा आम्रफलों पर मुग्ध हो चुका था। पथ्य—अपथ्य की बातों की ओर उसका ध्यान नहीं गया। सम्राट् बोला— अरे! अब तो बहुत वर्ष बीत चुके हैं, मेरी बीमारी भी अब बिल्कुल चली गई है। अब किसलिये पथ्य रखा जाय, इतने

में तो एक पका आम टूटकर सम्राट् की गोदी में आ पड़ा। मैं कोई बहुत आम तो खा नहीं रहा हूँ। यह कहते-कहते मंत्री के बहुत मना करने पर भी राजा उसे खाने के लिये उद्यत हुआ। अब भी मंत्री ने खूब समझाया पर जिह्वा के वश हुआ सम्राट् कहां सुनने वाला था? आखिर उस आम को चूस ही लिया। अपथ्य पदार्थ के अन्दर जाते ही रोग भयंकर रूप से उभरा और सम्राट् की तत्काल मृत्यु हो गई। यह है रसनेन्द्रिय के वश में होने का परिणाम। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

viRFkḥ vĒcxaHkkḥpkj jk; k jTtarqkj , A

अपथ्य आम को खाकर सम्राट अपना राज्य एवं जीवन गंवा बैठा।

दुर्गतिकारिका स्पर्शना

रसना के पश्चात् पांचवीं इन्द्रिय स्पर्शना है। स्पर्श सुखों में रमण, मानवीय जीवन को अन्दर से खोखला बना देता है। स्पर्श विषय मानव को क्षणिक समय के लिए सुखकारी महसूस हो सकता है, अंततः तो महादुःख देनेवाला बनता है। उत्तराध्ययन सूत्र में ही प्रभु ने बतलाया है—

[k.k feŪk | ꣳ[kk] cgꣳdky nꣳ[kk]

i xkĒe nꣳ[kk] vf.kxke&I ꣳ[kkA

I ḍ kj ekḶ[kLI] foi D[k Hkkj]

[kk.kh v.kRFk.k] mckē HkḶskAA

यह स्पर्श विषयक काम भोग क्षण मात्र सुख देने वाले हैं, किन्तु दीर्घकाल तक दुःख देने वाले हैं। जिसमें स्वल्प सुख हो और बहुत दुःख हो, वे सुखदायी कैसे हो सकते हैं? ये संसार को बढ़ाने वाले हैं, अनर्थों की खान हैं, तथा मुक्ति के लिए शत्रु के समान हैं।

बंधुओ! स्पर्शनेन्द्रिय में रमण करने वाला मानव कभी भी वास्तविक शांति प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती इस स्पर्श सुख में इतना अधिक आसक्त था कि मृत्यु के अन्तिम क्षणों में भी पटरानी कुरुमति का नाम रटता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप चक्रवर्ती के विशाल वैभव को छोड़कर भयंकर सर्वाधिक दुःखप्रद सातवीं नरक का मेहमान बन गया।

महाशक्ति सम्पन्न हाथी भी इसी स्पर्श सुख के वशीभूत होकर अपनी प्रबल शक्ति को गंवा बैठता है।

एक इन्द्रिय पर आसक्ति भी महान् अनर्थ का कारण बन जाती है। इसलिये आनन्दघनजी ने श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना के माध्यम से स्पष्ट कहा है—

I ; y l d kjh bflnz jkeh] e[ux.k vkrejkeh jA

ऐन्द्रिक विषयों में रमण करने वाला प्राणी संसार के भव प्रपंच को बढ़ाता है।

सुखाभास में सुख प्रतीति

ऐन्द्रिक सुख वास्तविक सुख नहीं है, सुखाभास है। काँच का टुकड़ा हीरे के समान चमचमाहट करता है, किन्तु वास्तविक हीरा नहीं है। उसे हीरा मानने की भूल हीरे की परख से अनभिज्ञ व्यक्ति ही कर सकता है ठीक इसी प्रकार इन्द्रिय—विषय हैं। इनमें सुख की अनुभूति सामान्य जन ही कर सकते हैं। अन्तर की अनुभूति रखने वाला व्यक्ति कभी भी ऐन्द्रिक सुखों में आसक्त नहीं होता है।

आत्मा का स्वभाव इन ऐन्द्रिक सुखों में रमण करने का नहीं है। क्योंकि पांच इन्द्रियों में आनन्द नहीं आता है, अज्ञानतावश आनन्द मान लिया जाता है। आपने श्वान को देखा होगा जो गलियों में इधर—उधर घूमा करता है। जब कभी श्वान किसी हड्डी के टुकड़े को देखता है, तब सोचता है कि इस हड्डी में कहीं खून होगा, इसे मैं प्राप्त कर लूँ। यही सोचकर वह हड्डी के टुकड़े पर दाँत गड़ाता है और देखता है कि खून निकला या नहीं? जब यह लगा कि खून नहीं निकला तो बड़ी जोर से हड्डी को दाँतों के बीच दबाने लगता है। किन्तु हड्डी से तो खून निकलने वाला है ही नहीं, लेकिन दाँतों पर अधिक जोर देने से उसके ही मसूड़ों से खून रिसने लगा, श्वान उसे ही हड्डी से निकला खून मानकर चूसने लगता है। उसी में उसे आनन्द आने लगता है।

श्वान तो अज्ञानी है किन्तु आज का अज्ञ मानव भी हड्डी के समान बाहरी तत्त्वों में आनन्द मान रहा है और उसी को पाने के लिये अपनी शक्ति लगा रहा है। परन्तु पर पदार्थों में आनन्द कहां है? क्या इस पाटे में आनन्द है? सुख है? यदि पाटे में आनन्द हो तो पाटा आनन्द का अनुभव करे। किन्तु पाटा आनन्द की अनुभूति नहीं करता है क्योंकि उसमें आनन्द है ही नहीं। क्या मिष्टान्न में आनन्द है? क्या भोजन में आनन्द है? मिष्टान्न या भोजन कोई भी पौद्गलिक पदार्थ स्वयं आनन्द रूप नहीं है। उसमें आनन्द थोपा जाता

है। जिस प्रकार हड्डी आनन्द रूप नहीं है, किन्तु खुद का खून ही चूस कर अज्ञानी कुत्ता आनन्द की अनुभूति करने लगता है। मिष्टान्न एवं भोजन में आनन्द नहीं है। न ही वे आनन्द की अनुभूति ही करते हैं। आनन्द लेने वाला चैतन्यवान प्राणी होता है। किन्तु वह अज्ञतावश इन तुच्छ पदार्थों में आनन्द मान बैठता है।

सुख पुद्गलों में नहीं, स्वयं में

बन्धुओ! सुख पौद्गलिक पदार्थों में नहीं है, स्वयं आत्मा में है। आत्मा वैभाविक अवस्था में रहती हुई पुद्गलों में सुख मान बैठती है। इन्द्रियां उन भौतिक तत्त्वों को पाने को उत्कण्ठित हो उठती हैं। इन्द्रियों के पीछे आत्मीय शक्ति काम करती है। कोई भी इन्द्रिय बाहरी तत्त्वों से अधिकाधिक सुख की प्राप्ति नहीं कर सकती। जिस इन्द्रिय को जिस विषय से सुख की अनुभूति होती है उस इन्द्रिय को उसी विषय से बार—बार सम्बन्धित किया जाय तो वह विषय सुख देने के स्थान पर दुःखप्रद बन जायेगा।

जिस प्रकार कान है। कान मधुर गीत सुनने का रसिक है अर्थात् कर्मबद्ध आत्मा कान के माध्यम से गीत सुनकर सुखानुभूति करती है। यदि उसी गीत को उसे बार—बार सुनाया जायेगा, तो वह गीत जो सुख देने वाला था, वह उतना ही दुःख देने वाला बन जाएगा।

जिह्वा के माध्यम से प्राणी जिस मिष्टान्न को अधिक खाना चाहते हैं। उसी मिष्टान्न को उसे बार—बार खिलाया जायगा तो वह उसके लिए हानिकारक बन जायेगा। यही स्थिति सभी इन्द्रियों की है। आत्मा इन्द्रियों के माध्यम से कभी पौद्गलिक वस्तुओं से शाश्वत सुख की अनुभूति नहीं कर सकती है। सुख बाहर नहीं अन्दर है।

शक्ति को अन्तः में नियोजित करो

इन्द्रियों के माध्यम से जो शक्ति पौद्गलिक तत्त्वों में खर्च हो रही है उसे अन्दर नियोजित करें तो अन्तः में विद्यमान सुख का अक्षय स्रोत उद्घाटित हो उठेगा।

कवि ने इसीलिये कहा है—

I ; y l d kjh bflnz jkeh] e[ux.k vkrejkeh jA

e[; i.k s ts vkrejkeh] rs d'oy fu'dkeh jAA

ऐन्द्रिक विषयों से हटकर आत्मरामी बनिये। जब भव्य पुरुष अपनी सारी शक्ति को ऐन्द्रिक विषयों से हटाकर आत्मरमण में नियोजित कर देगा तो निश्चित ही एक न एक दिन सुख का परम स्रोत उद्घाटित कर लेगा।

श्रेयांस जिनेश्वर ने अपनी सारी इन्द्रियों को पौद्गलिक विषयों से हटाकर आत्मरमण में नियोजित किया था। भौतिक तत्त्वों से परांगमुखी बनकर अध्यात्म की ओर उन्मुख हुए थे, निष्काम भाव से रमण करने लगे थे। इसी निरासक्त आत्मसाधना के द्वारा उन्होंने परम स्वरूप को प्राप्त कर लिया था।

सुज्ञ बंधुओ! यदि अनन्त सुख को प्राप्त करना है तो इन्द्रियों की शक्ति को वैषयिक तत्त्वों से हटाइये और आत्म स्वरूप के जागरण में नियोजित करिये। इन्द्रिय और मन का समीक्षण करिये। तब एक दिन अवश्य ही आत्मरामी आत्मानन्द को पा लेगा।



12

भौतिक और आध्यात्मिक समीक्षण

- आध्यात्मिकता और भौतिकता के परिवेश में श्रेय और प्रेय
- अध्यात्म – श्रेय पथ
- श्रेय का प्रभाव प्रेय पर
- भौतिकता बनाम श्रेय पथ
- श्रेय सिद्धान्त कौन-सा?

i <eauk.karvksn; k

दशवैकालिक सूत्र 4 / 10

पहले ज्ञान और फिर आचरण होना चाहिए। जब तक किसी भी विषय का बोध नहीं होता, तब तक उस विषय में सही रूप से प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सही रूप से प्रवृत्ति करने के लिये सम्बन्धित विषय का बोध होना आवश्यक है।

भौतिक पदार्थों की उपलब्धि के लिए भी जब उन तत्त्वों के बोध की आवश्यकता होती है तो आध्यात्मिक पथ पर बढ़ने के लिए तो तद्विषयक सम्यक् बोध की अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है।



fut Lo: i tsfØ; k | k/ks rsv/; kRe yfg; sjA

tsfdj; k djh pmxfr | k/ks rsu v/; kRe dfj; sjAA

Jh Jş kd -----AA 3AA

भव्य उपासको! आपके समक्ष श्रेयांसनाथ भगवान की प्रार्थना का प्रसंग चल रहा है। श्रेयांस प्रभु चौबीस तीर्थकरों में से ग्यारहवें तीर्थकर हैं। श्रेयांस शब्द श्रवण करते ही जीवन में श्रेय भावना के साथ ही श्रेय पथ पर बढ़ने की तमन्ना जाग्रत हो उठती है।

श्रेय-मार्ग एवं प्रेय-मार्ग की संक्षिप्त व्याख्या कल मैं आपके समक्ष कर चुका हूँ। श्रेय मार्ग पर चलने वाले साधक की अवस्था कैसी बनती है? और प्रेय मार्ग पर चलने वाले साधक की दशा कैसी बनती है? इसका स्वरूप भी उदाहरणों के द्वारा मैं समझा चुका हूँ।

आध्यात्मिक और भौतिकता के परिवेश में श्रेय और प्रेय

आज श्रेय मार्ग एवं प्रेय मार्ग को आध्यात्मिकता एवं भौतिकता के परिवेश में समझाने के लिए स्तुति की तीसरी कड़ी से प्रभु की अभ्यर्थना की गयी है। किस प्रकार का आचरण अध्यात्म से सम्बन्धित है और किस प्रकार का आचरण भौतिकता से सम्बन्धित है, इसका निर्देश दिया गया है।

जब तक साधक को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, जिससे आत्म विकास सध सके— इसका ज्ञान न होगा, तब तक वह श्रेय मार्ग की साधना पर नहीं बढ़ सकता। प्रभु ने इसीलिए पहले ज्ञान और फिर आचरण का संकेत दिया है—

i <eauk.karvksn; kA

पहले ज्ञान और फिर आचरण होना चाहिए। जब तक हित-अहित का ज्ञान नहीं होता— कौन-सा मार्ग आत्मा के लिए हितकर है, कल्याणप्रद है, जीवन को सुखी और शान्त बनाने वाला है? कौनसा रास्ता इस आत्मा को चार गति-चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण कराने वाला है? दुःखों का किस-किस रूप में सर्जन कराने वाला है? इन बातों का विवेक नितान्त आवश्यक है। इसी बात का विवेक श्रेयांस प्रभु की स्तुति में कराया गया है।

जैसा कि कड़ी में कहा है—

fut Lo: i | sfØ; k | k/ks rsv/; kRe yfg; sjA

जिस क्रिया—आचरण से सच्चे अर्थ में निज स्वरूप को प्राप्त करने की या स्वरूप में स्थिर होने की साधना की जाती है। वही अध्यात्म क्रिया है। ऐसी अध्यात्म क्रिया ही श्रेय मार्ग को प्रशस्त बनाने वाली है।

अध्यात्म - श्रेय पथ

निश्चय दृष्टि से निजस्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि से युक्त मन, वचन, काया के व्यापार को अप्रमत्त भाव की ओर अग्रसर करना अध्यात्म क्रिया कहलाती है। मन, वचन, काया का अहिंसापूर्ण व्यवहार ही स्व—पर के लिए कल्याणकारी होता है।

स्थूल दृष्टि से तो मुख्यतः काया और वचन का ही व्यापार परिलक्षित होता है। मन में होने वाला व्यापार दृष्टिगत नहीं होता है किन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् के ज्ञान में तो मन का व्यापार भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। मन में भी संसार के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीय व्यवहार होना चाहिए। समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिए।

“आत्मवत् सर्वभूतेषु” के सिद्धान्त को सदा मन में रखना चाहिये। जिस साधक का मन आत्मीय व्यवहार में तन्मय है उस साधक के मानसिक विचारों का प्रभाव निश्चित रूप से अन्य प्राणियों पर भी पड़ता है।

श्रेय का प्रभाव प्रेय पर

भगवान् महावीर छद्मस्थावरस्था में विचरण कर रहे थे। विचरण के दौरान वे एक बार भयानक जंगल में प्रवेश करने लगे। जंगल में प्रवेश करने के स्थल पर ही कुछ ग्रामीण व्यक्ति खड़े थे। उन्होंने भगवान् को उस जंगल में जाने से रोकने की कोशिश की।

वे बोले— अरे तुम्हें मालूम नहीं है, इस जंगल में महा भयानक विषधर रहता है जिसकी फुंकार मात्र से प्राणियों के प्राण चले जाते हैं। जिस जंगल में मानवों की तो बात दूर रही, पशु—पक्षी भी दौड़कर अन्य वनों में चले गये हैं, ऐसे वन में मत जाओ। किन्तु अध्यात्म स्वरूप में रमण करने वाले श्रेय पथानुगामी भगवान् कहां रुकने वाले थे? वे उन ग्रामीण भाइयों की उपेक्षा कर आगे बढ़ते चले गये। ग्रामीण व्यक्ति एक—दूसरे को कहने लगे कि यह कैसा साधु है, जो किसी की बात सुनता ही नहीं है। जिसे अपने जीवन की परवाह नहीं है। मुंडे—मुंडे मतिर्भिन्ना के अनुसार सभी अपनी—अपनी बात कहने लगे।

प्रभु महावीर तो अपने ही ध्यान में मस्त उस भयानक जंगल की ओर बढ़ते चले गए, जिधर महा भयंकर विषधर का बिल था। विषधर को ज्यों ही मानव की गंध आई, त्यों ही उसकी कोपाग्नि भड़क उठी। वह सोचने लगा— अहो! यह कितना साहसी है, आगे बढ़ता ही जा रहा है। मैं इसे अपनी एक फुंकार में भस्म कर देता हूँ यह सोचकर सर्प ने विष भरी फुंकार की, किन्तु उस महामानव पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। यह देख वह और क्रोधित हुआ तथा प्रभु के पैरों में जोरदार डंक मारा। डंकित स्थल से धवल रक्त प्रवाहित होने लगा। यह देखकर तो सर्प हतप्रभ हो गया। वह उस शक्तिशाली पुरुष को निहारने लगा।

इसी अवसर पर उसे भगवान् का सन्देश मिला ‘बुज्झह किं न बुज्झह’ जाग, जाग, क्यों नहीं जग पा रहा है! प्रभु के आत्मीयतापूर्ण व्यवहार से सर्प के अन्तर्चक्षु खुल गये। बीते हुये भव के चित्र उसके हृदयपट पर उभरने लगे। प्रभु के सम्पर्क को पाकर पतितोन्मुख आत्मा उत्थानोन्मुख बन गई। घटना चाहे किसी भी रूप में हो परन्तु यह सब प्रभु के मन, वचन, काया से आचरित अहिंसापूर्ण व्यवहार का ही प्रभाव था। प्रभु निश्चय और व्यवहार दोनों ही अपेक्षाओं से श्रेय—अध्यात्म पथ पर चले रहे थे। प्रभु ने निज की अनुभूति के साथ ही संसार के समस्त प्राणियों के हित के लिये श्रेय पथ प्रतिपादित किया है।

भौतिकता बनाम श्रेय पथ

कवि ने अध्यात्म भाव की विवेचना के अनन्तर किस क्रिया के आचरण से साधक भौतिकता की ओर उन्मुख हो जाता है, इसका वर्णन किया है।

tsfdfj; k djh pmxfr l k/k rsu v/; kre dfg; sjA

जो क्रिया नरकादि चारों गतियों में से किसी भी गति में ले जाने वाली हो, वह क्रिया अध्यात्म की नहीं है। ऐसी क्रिया भौतिकपरक है।

सुज्ञ बन्धुओ! आज के युग में अध्यात्म के नाम से कई साधक अनेक प्रकार की अज्ञानयुक्त कठोर क्रिया करते रहते हैं। भद्रिक मानस उनकी कठोर क्रिया को देखकर खुश हो जाते हैं, उनकी दृष्टि में ऐसे साधक महासाधक की संज्ञा पा लेते हैं। यथार्थ में ऐसे साधकों की क्रिया आध्यात्मिक न होकर भौतिक होती है। बाह्य रूप से चाहे वे साधक अपनी कठोर क्रिया को आध्यात्मिक बतलाते हैं, लेकिन भीतर में तो अपनी प्रसिद्धि, पदप्रतिष्ठा

या अन्य कोई स्वार्थपूर्ति की भावना ही सन्निहित रहती है।

कई साधकों के मन में अपनी कठोर क्रिया के फलस्वरूप देवलोक या भौतिक सुख पाने की कामना रहती है या फिर कई साधक मनुष्य लोक के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये कठोर क्रिया का प्रदर्शन करते हैं। अन्य निर्मल चरित्री साधकों को निकृष्ट बताकर स्वयं को उत्कृष्ट बतलाते हैं।

ऐसे साधकों द्वारा की जाने वाली क्रिया को आनन्दघनजी आध्यात्मिक न बतलाकर भौतिक बतलाते हैं। ये क्रियाएं साधक को मुक्ति का राही न बनाकर चारगति में परिभ्रमण कराने वाली बनाती हैं।

श्रेय सिद्धान्त कौन-सा?

श्रेयानुगामी साधक को श्रेय सिद्धान्तों का ज्ञान होना भी आवश्यक है। आज विश्व में सिद्धान्तों की, मतों की, पंथों की, सम्प्रदायों की प्रचुरता है। चार व्यक्ति भी जहाँ एकत्रित हो जाते हैं, वे भी अपने कुछ न कुछ सिद्धान्त बनाने की चेष्टा करते हैं। चार व्यक्तियों की बात तो दूर रही, एक ही व्यक्ति स्वयं भी अपने आप में थोड़ी समझ अधिक लेकर चलता है तो वह कह बैठता है कि ये मेरे सिद्धान्त हैं, तथा अपने कल्पित सिद्धान्तों को बतलाकर जनमानस को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करता है। जब कुछ भद्रिक लोग उस ओर आकर्षित हो जाते हैं तो वह अपना नया पंथ या सम्प्रदाय खड़ा कर लेता है।

वस्तुतः चिन्तन किया जाय तो इस प्रकार के कल्पित सिद्धान्तों से श्रेय साधना नहीं बन सकती है। छद्मस्थ व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त पूर्णतः निर्दोष नहीं हो सकते। छद्मस्ततावश कहीं स्खलन हो ही जाता है। स्खलित सिद्धान्तों का आचरण साधक को लक्ष्य से हटा देता है।

निर्दोष मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो पूर्ण ज्ञानी साधक ही कर सकता है। जो साधक सतपुरुषार्थ के बल पर आत्मा में स्थित घातिक कर्मों की परतों को हटा देता है अर्थात् जिस साधक के घनघातिक कर्म चतुष्टय क्षपित हो गये हैं, जिसकी आत्मा अनन्त ज्ञानालोक से जगमगा उठी है, जिसके अन्तः में अंशतः भी राग-द्वेष की भावना नहीं है— ऐसा साधक ही एकान्ततः निर्दोष सिद्धान्तों का प्ररूपण कर सकता है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों के द्वारा प्रतिपादित होने से द्वादशांगी बिल्कुल निर्दोष है। आज जो अलग-अलग

मतों, पंथों की प्रचुरता दिखलाई दे रही है वह सच्चे ज्ञान के अभाव का ही परिणाम है। अरिहंत प्रभु महावीर द्वारा प्रतिपादित एकादशांग रूप श्रेयस पथ आज भी विद्यमान है।

सज्जनो! श्रेय पथ कौनसा है? इसके क्या सिद्धान्त हैं? उसका विज्ञान प्राप्त करके ही उस पथ पर बढ़ने का प्रयास करेंगे तो निश्चित श्रेयस पद पायेंगे।

आज का दिन प्रश्नोत्तर का था। किन्तु प्रश्नकर्ता न होने से मैंने आपको कुछ उद्बोधन देना प्रारम्भ कर दिया। इसी बीच ज्ञात हुआ कि प्रश्नकर्ता आ गये हैं। अतः अब मैं प्रवचन को यहीं समाप्त करता हूँ। अवशेष समय में जो भी व्यक्ति प्रश्न करना चाहे तो वह प्रश्न कर सकता है।

(आचार्य प्रवर द्वारा इस प्रकार जनता को सम्बोधित किये जाने पर लोगों ने जो जिज्ञासायें रखीं उन जिज्ञासाओं के साथ ही आचार्य प्रवर द्वारा प्रदत्त समाधान भी प्रस्तुत किया जा रहा है।)

ftKkl k 1& वर्तमान जीवन में मनुष्य के जो-कुछ भी शुभ या अशुभ परिणाम बन रहे हैं वे परिणाम तथा जिन अच्छे या बुरे कार्यों में वह लग रहा है, वे कार्य क्या पूर्वकृत कर्मों के ही परिणामस्वरूप हैं या अन्य कोई रहस्य है?

प्रश्नकर्ता— चौथमलजी भंसाली

I ek/kku& सुज्ञ बन्धुओ! पूर्व जन्मों में कृत कर्मों का परिणाम तो हमारे समक्ष स्पष्ट है। यह मानव तन, मन और वचन रूप त्रिपुटी की प्राप्ति पूर्व कृतकर्मों का ही परिणाम है। मन में होने वाले शुभाशुभ अध्यवसाय तथा शरीरादि द्वारा किये जाने वाले अच्छे या बुरे कार्यों में पूर्वकृत कर्मों की छाया होती है। वर्तमान जीवन पूर्व कृतकर्मों की परिणति रूप होते हुये भी मानव अपनी विवेकशील प्रज्ञा द्वारा सत्पुरुषार्थ के बल पर अपने जीवन का नव निर्माण कर सकता है।

यदि जीवन की हर गतिविधि को पूर्वकृत कर्मों का परिणाम मान लिया जायेगा तो उसमें ये प्रश्न पैदा हो जायेंगे। प्राणी जो-कुछ भी वर्तमान जीवन में क्रिया-कलाप कर रहा है, वह पूर्व कृतकर्मों का परिणाम है। वर्तमान में क्रिया-कलाप उसके पूर्वकृत कर्मों को क्षपित-नष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार जब वह कृत कर्म क्षपित कर चुका तो फिर उसकी मोक्ष हो जानी चाहिये।

इस पर यदि कहा जाय कि नहीं, वह पूर्व कर्मों के भोग के साथ नये कर्म भी कर रहा है, जो कि उसके अगले जन्म का निर्माण करने वाले हैं। ऐसे कर्म भी पूर्व कर्मों के परिणामस्वरूप हैं या उसका अपना पुरुषार्थ है? यदि उसे पूर्व कर्मों का परिणाम माना जायेगा तो कोई भी प्राणी मोक्ष पा ही नहीं सकता। कर्म की अविच्छिन्न परम्परा चलती रहेगी, भगवान् द्वारा प्रतिपादित पुरुषार्थवाद रह ही नहीं पायेगा। अतः स्पष्ट है कि प्राणियों को होने वाली सुख और दुःख की अनुभूति पूर्व कृतकर्म के परिणामस्वरूप होते हुये भी उस समय में होने वाली राग-द्वेष की भावना या समभाव की साधना उसके अगले जीवन का सर्जन करने वाली बनती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा कर्मों के आश्रित नहीं है, आज जो-कुछ भी सुख-दुःख मिलता है, वह आत्मा के द्वारा किये गये शुभाशुभ क्रिया-कलापों से है। आत्मा ही अपने अच्छे या बुरे जीवन का सर्जन करने वाली है।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है-

vli kdÜk fodÜk;] ngk.k ; I gk.k ; A

vli k feÜkfeÜk p] nqi fBBv I q fVBvkAA

आत्मा ही अपने सुख-दुःख की कर्ता और भोक्ता है, अशुभ कार्यों में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी शत्रु है और शुभ विचारों में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी मित्र है।

अतः शुभ या अशुभ अध्यवसाय, अच्छे या बुरे कार्य स्वयं के द्वारा ही निर्मित किये जाते हैं। कर्म तो मात्र निमित्त है।

ft Kkl k 2& जो मूर्तिपूजक लोग हैं, वे बहुत खर्च करके, बड़े-बड़े मन्दिर बनवा कर अनुष्ठान करवाते हैं। वे क्यों नहीं छोटी मूर्ति बनवाकर छोटे मकान में स्थापित कर लेते? इस पर आपश्री के क्या विचार हैं?

प्रश्नकर्ता- आर.एल. सिंघवी

प्रिसिपल, कॉमर्स कॉलेज (अहमदाबाद)

I ek/kku& प्रश्नकर्ता का आशय, सम्भव है श्रेय कार्य की ओर इंगित कर रहा है जहां लाखों-करोड़ों का खर्च करके विशाल मन्दिर बनवाया जाता है, वहां उन रुपयों को बचा करके क्यों नहीं परोपकार में, दीन-दुखियों

के कष्टों को मिटाने में, शिक्षण कार्यों में या अन्य किसी परमार्थ कार्य में लगा लिये जायें जिससे रचनात्मक कार्यों के साथ अधिक पुण्यवानी का अर्जन किया जा सके। क्यों सिंघवी सा. क्या आपके प्रश्न के पीछे यही आशय रहा है न?

जी हां- सिंघवी साहब ने कहा।

हाँ तो सज्जनो! यह सभी के समझने का विषय है। मैं तो यही कह सकता हूँ कि जितने भी व्यर्थ के खर्च हैं, उन्हें सीमित करके अवशेष सारी शक्ति प्राणी मात्र की रक्षा रूप परमार्थ के कार्यों में नियोजित करना अधिक उपयुक्त है जिससे आत्मा से ममत्व का विसर्जन हो।

प्रभु महावीर ने भव्य प्राणियों को सभी बाह्य परिधियों से हटाकर उन्हें निपट आत्मिक जागरण की ओर अधिक बल दिया है। स्वयं गौतम स्वामी को जिनेश्वर महावीर ने कहा- तुम जिन को नहीं देख रहे हो ! जबकि स्वयं भगवान् सामने उपस्थित हैं। प्रभु ने फरमाया कि तुम जिन को तभी देख सकते हो जब तुम स्वयं जिन बन जाओगे। अतः स्पष्ट है- प्रभु की दिव्य दृष्टि में शरीर का भी महत्त्व नहीं था, उनके ज्ञान में आत्मा का परम स्वरूप रहा हुआ था।

ft Kkl k 3& आपश्री ने अपने प्रवचन में बतलाया कि संसार में श्रेय और प्रेय दो मार्ग हैं। श्रेयस् मार्ग का अंतिम परिणाम दुखों से पूर्ण निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति है किन्तु विश्व में ऐसा देखने में आता है कि प्रेय मार्ग की ओर लोगों का मन अधिक आकर्षित रहता है, ऐसा क्यों? इसके साथ एक प्रश्न और यह है कि जीवन शुद्धि का आनन्द प्राप्त करने के लिए प्रभु भक्ति, उपदेश, ज्ञान या धर्म ही पर्याप्त है?

प्रश्नकर्ता- श्री कांतिलाल शाह

I ek/kku& विश्व का प्रत्येक प्राणी जन्म-जन्मान्तर से मोह कर्म से घिरा हुआ है। मोह कर्म का आवरण इतना घनीभूत होता है कि जिससे आत्मा को हित-अहित का यथार्थ विवेक नहीं रह पाता, यह आत्मा अनन्त-अनन्त जन्मों से प्रेय मार्ग की ओर ही अधिक अग्रसर रही है। कुछ पुण्यवानी से मनुष्य जन्म को प्राप्त कर लिया तथा जन्म-जन्मान्तर से प्रेय मार्ग की ओर ही अधिक आकर्षित होते हैं।

यह कारण तो पूर्व जन्म से सम्बन्धित है, वर्तमान जीवन में भी

अनेकों कारण उसे प्रेय मार्ग की ओर अग्रसर करने वाले बनते हैं। आज का युग अधिकाधिक भौतिकता की ओर दौड़ता जा रहा है, सभी ओर धन-सम्पत्ति की ही धूम मची हुई है। वातावरण भी इतना अश्लील बन चुका है कि जिधर देखो उधर प्रेय मार्ग की ओर प्रवृत्ति कराने वाले साधन मनुष्यों को मिल रहे हैं। परिवार, समाज, राष्ट्र एवं सारे विश्व में भौतिक सुखों की प्रधानता परिलक्षित है। इस प्रकार के वातावरण का प्रभाव मानव को सहज ही प्रेय मार्ग की ओर मोड़ देता है।

श्रेय मार्ग की ओर प्रवृत्ति कराने वाले साधन संसार में बहुत अल्पमत हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् द्वारा प्रतिपादित, श्रेय मार्ग की उपलब्धि भी भव्य उपासकों को बहुत दुर्लभ हो गई है, श्रेय मार्ग के प्रतिपादक साधक भी बहुत विरले मिलेंगे। अधिकांश साधकों के मन में यह भावना रहती है कि अमुक व्यक्ति मेरा भक्त बन जाय। उसे भक्त बनाने के लिये वे उसके अनुकूल ही उपदेश देंगे जो कि सही अर्थों में श्रेय मार्ग को बताने वाला नहीं होगा। और जहां श्रेय मार्ग की उपलब्धि होती भी है वहां पर भी कई भाई-बहिन इसलिए पहुंचते हैं कि धर्म-ध्यान आदि श्रेय कार्य को करने से हमें भौतिक सुख-सम्पत्ति मिल जाय, हमारे दुःख दूर हो जायें या मेरे कोई सन्तान नहीं है तो सन्तान हो जाय। उनकी भावनाएं उन्हें श्रेय स्थान पर ला कर भी प्रेय मार्ग की ओर मोड़ देती हैं। बहुत विरले मानव सच्चे अर्थों में श्रेय मार्ग को अपना पाते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रेय मार्ग में लोगों को जिस सुख का आभास होता है हालांकि वहां वास्तविक सुख नहीं है। किन्तु मृग मरीचिका की तरह साधारण मानवों का उधर ही अधिक आकर्षण बढ़ता है।

दूसरा प्रश्न आपका था कि भक्ति, ज्ञान या धर्म ही आत्मिक आनन्द के लिए पर्याप्त हैं? सुज्ञ बन्धुवर! प्रभु ने निपट ज्ञान या मात्र आचरण को ही आत्मानन्द में कारण नहीं माना है। किन्तु ज्ञान और क्रिया का सम्मिलित रूप ही परमानन्द का कारण बनता है। ज्ञानी जनों ने स्पष्ट कहा है—

^Kku fØ; kh; kaek%K%

ज्ञान-क्रिया के आचरण से ही आत्मा परमानन्द को प्राप्त कर सकती है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए एक अंध-पंगु का उदाहरण भी मिलता है।

भयानक दावानल से अपने को बचाने के लिए एक अंधा और दूसरा पंगु विह्वल हो उठे। लेकिन अकेला अंधा या अकेला पंगु अपने को बचा नहीं सकता। पंगु के आँखें होते हुए भी पैर न होने से दौड़ नहीं सकता। अंधे के पैर होते हुए भी आँख न होने से वह दावानल से बच नहीं सकता किन्तु जब पंगु व अंधा दोनों की शक्तियाँ मिल जाती हैं, तो वे उस दावानल से बच सकते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा राग-द्वेषपूर्ण भयानक दावानल से बचकर परमानन्द को तभी प्राप्त कर सकती है जब वह ज्ञान और क्रिया को सम्मिलित रूप से जीवन में अपनावे।

अकेला ज्ञान या अकेली क्रिया आत्मा को सुखी नहीं बना सकती। परमानन्द का स्रोत तो स्वयं के भीतर ही विद्यमान है, आवश्यकता है ज्ञान, क्रिया की सम्मिलित साधना से उस स्रोत पर आए कर्म कलिमल को हटाने की।

ft Kkl k 4& मेरा प्रश्न कल के व्याख्यान से सम्बन्धित है। आपश्री ने कल प्रवचन में फरमाया था, अनीति की कमाई में स्त्री-पुरुष दोनों सहभागी हैं, तो उसी अनीति की कमाई से घरों में रसोई भी बनती है। जिसे संत-सती भी ग्रहण करते हैं, तो क्या वे उसके सहभागी नहीं होंगे? साथ ही अनीति की कमाई सामाजिक कार्यों में भी काम में आती है, जिससे संघ के सकल सदस्य भी क्या उस कमाई में सहभागी नहीं बनेंगे?

प्रश्नकर्ता— हेमन्तकुमार नाहर

I ek/ku& सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि नीति या अनीति किससे सम्बन्धित है। चैतन्य से या जड़ से। क्या यह पाटा नीति- अनीति को समझता है? क्या इसमें नीति या अनीति का परिणाम आ सकता है?

जी नहीं (प्रश्नकर्ता ने कहा)।

अतः स्पष्ट है— नीति या अनीति, चैतन्य आत्मा के परिणाम हैं। आत्मा के अशुद्ध परिणाम अनीति और आत्मा के शुद्ध परिणाम नीति हैं। मैंने जो कल कहा था कि व्यापार में होने वाले अनीति-पाप का भागीदार जैसे वह भाई होता है वैसे ही उसकी धर्मपत्नी भी होती है। क्योंकि अनीति करने का परिणाम उस व्यापारी का है तो अनीति कराने का परिणाम उसकी धर्मपत्नी का है। इन परिणामों के कारण ही दोनों का पाप का भाग मिलता है। परिणाम के कारण जीवों के साथ कर्मों का बन्धन होता है। अब आपका प्रश्न है कि उस नीति से अर्जित धन से बनाए गए भोजन को संत-सती भी

लेते हैं तो उन्हें भी उसका पाप लगाना चाहिए? यहां पर विचार करना है कि कर्म बन्धन या पाप का हिस्सा तदनुरूप परिणामों के होने पर आता है। क्या संतों की भावना श्रावकों से अनैतिकता से काम कराने की है?

सच्चा संत मनसा, वाचा, कर्मणा कभी भी अनैतिकता नहीं चाहता। संत जीवन अंगीकार करने के साथ ही सभी सावध पापकारी कार्यों का त्याग हो जाता है। पापकारी कार्यों के अन्तर्गत अनीति भी आ जाती है। संत स्वयं अनीति करते नहीं, किसी से करवाते नहीं और करने वाले को अच्छा भी नहीं समझते। ऐसी स्थिति में संतों को अनीति से किए व्यापार का भाग कैसे मिल सकता है?

हाँ, संत अन्न और जल तो गृहस्थों के घरों से ही लेते हैं। परन्तु संतों के नीति और अनीति का प्रावधान दूसरी प्रकार से है। जिस प्रकार आपके व्यापार करने की मूल्य सूची सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है, उसके अनुसार यदि व्यापार किया जाता है तो वह नीति का होता है। यदि उस मूल्य सूची को तोड़कर व्यापार किया जाता है तो वह अनीति का होता है। जिस प्रकार सरकार ने आपके लिए मूल्य सूची बना रखी है, उसी प्रकार संतों के लिए अन्न और जल ग्रहण करने के लिए सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने सारा विधान कर रखा है, साधु को 42 दोष टाल कर आहार-पानी लाना होता है। साधु पांच महाव्रत पालन करने के साथ ही 42 दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करता है तो वह अन्न-जल उसके लिए नैतिक है। यदि वह भगवान् द्वारा बतलाए गए नियमों का पालन नहीं करता है तो उसका अन्न-जल ग्रहण अनैतिक बन जाता है।

यह तो मैं पहले बतला चुका हूँ कि स्वयं अन्न या जल नीति या अनीति नहीं हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक छोटा रूपक है। किसी करोड़पति के भवन निर्माण हेतु बहुत से मजदूर काम कर रहे हैं। मजदूरों के लिए जितने घण्टे काम करने को कहा गया है, मजदूर उतने ही घण्टे ईमानदारी से काम करके सेट से अपनी मजदूरी लेता है। सेट ने झूठ, चारी, अन्याय, अनीति करके जो धन कमाया है उसी धन में से मजदूर को मजदूरी देता है। अब बतलाइये ऐसा धन मजदूर के लिए नीति का है या अनीति का?

नीति का (प्रश्नकर्ता ने कहा)।

क्यों?

वह इसलिए कि मजदूर तो अपनी मजदूरी की विधि-ईमानदारी से

काम करके मजदूरी ले रहा है। सेट ने चाहे धन कैसे ही उपार्जित किया हो, उस मजदूर के लिए तो वह नीति का है।

ठीक इसी प्रकार उसी सेट के घर में उसी अनीति से उपार्जित धन से भोजन तैयार होता है। कोई पंच महाव्रती साधु उसके घर आहार लेने पहुंच जाय और वह भगवान् के बतलाए विधि-विधान के अनुसार बयालीस दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करे तो मजदूर को प्राप्त मजदूरी की तरह ही वह आहार-पानी साधु के लिए शुद्ध एवं नीति का होता है।

दूसरी बात प्रश्नकर्ता की यह थी कि उसी सेट का अनीति से उपार्जित धन समाज में काम आता है तो उस अनीति का भाग संघ सदस्यों को भी मिलना चाहिए। समझने का विषय यहां पर यह है कि शुभ भाव से समाज के सदस्य उससे पैसे ले रहे हैं। यदि समाज के सदस्य अनीति को अच्छा नहीं समझते हैं और जो पैसा ग्रहण कर रहे हैं वह भी जनहित में लगा रहे हैं। जिससे दो लाभ होते हैं, एक तो दाता का उन पैसों से ममत्व हटता है और समाज के अन्य सदस्यों को लाभ मिलता है। तो उसमें संघ के सदस्यों को उसकी अनीति का भाग कैसे आ सकता है? नहीं आता। यही नहीं, यदि पत्नी अपने पति के अनीतिपूर्ण कार्य में करने, कराने या अच्छा समझने में से किसी में भी सम्मिलित नहीं होती है। जो कथा मैं गत दिन वकील साहब की कह गया था। उनकी धर्मपत्नी ने उनके अनीति से उपार्जित पैसे को कतई स्वीकार नहीं किया, उस पैसे को वापस लौटा दिया, इस प्रकार नीति पर चलने वाली पत्नी को अनीति के पाप का हिस्सा प्राप्त नहीं होता।

ft Kkl k 5& जन्म एक है या अनेक? यदि अनेक है तो पूर्व जन्म का स्मरण क्यों नहीं रहता? क्या देव भी मनुष्य गति पाने के लिए तड़पते हैं?

प्रश्नकर्ता- विमलचन्द्र देवड़ा

l ek/ku& जन्म तो अनेक ही नहीं अनन्त हैं। यह आत्मा अनन्तानन्त जन्म-मरण कर चुकी है। शरीर तो वस्त्र परिवर्तन की तरह है। जैसे वस्त्र परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार शरीर का भी परिवर्तन होता रहता है- पूर्व जन्म की स्मृति भी अनेक को रहती है। आपने दैनिक, पाक्षिक, मासिक आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं को देखा एवं पढ़ा होगा। अमुक व्यक्ति को पूर्व जन्म की स्मृतियां अभी भी हैं। पत्रिकाओं में उसके फोटो तक दिए जाते हैं।

हाँ, पूर्व जन्म के संस्कार सभी को याद नहीं रह पाते। इसका कारण

यह है कि ज्यों ही गत जीवन को छोड़कर नये जीवन में प्रवेश करता है, त्योंही उसके सामने नये संस्कार आने लगते हैं, जिससे वह गत जीवन के संस्कारों को भूलता चला जाता है। यह तो गत जीवन की बात है। आज के लोगों को इस जीवन की घटनाएं भी याद नहीं रहतीं। मैं आपसे पूछता हूँ कि आप पढ़-लिखकर ग्रेजुएट बन गए हैं। क्या आपको याद है कि आपकी दसवीं कक्षा के पेपर में कितने प्रश्न थे और कौन-कौन से?

क्या अब आप उनका उत्तर दे सकते हैं?

जी नहीं— प्रश्नकर्ता ने कहा।

यही नहीं, आपने पांच दिन पहले कौनसी सब्जी खाई थी, यह भी आपको याद है या नहीं?

जी नहीं— प्रश्नकर्ता ने कहा।

तो जब आपको इतने सन्निकट जीवन की बातें भी याद नहीं रहती तो गत जीवन की बातें कैसे याद रह पायेंगी? जो किन्हीं-किन्हीं को पूर्व (गत) जीवन की बातें याद आती हैं, उनको आज के जीवन में कभी-कभी पूर्व के संस्कार जाग्रत हो जाते हैं।

बचपन में तो प्रायः पूर्व भवों के संस्कार जाग्रत रहते हैं। आपने कभी ध्यान से बच्चे की गतिविधि देखी हो तो ज्ञात होगा कि बच्चा बिना किसी कारण पालने में झूलता-झूलता किलकारियां मारने लगता है और बिना किसी कारण ही रोने लग जाता है। यही नहीं, उसके चेहरे पर विविध भाव-भंगिमा उभरने लगती हैं। जब उसे सुख की बातें याद आती हैं तो वह खिल उठता है और जब दुःख की बातें याद आती हैं तो वह मुरझा जाता है। किन्तु ज्यों-ज्यों उसका नवीन जीवन में प्रवेश होता जाता है, पूर्व की बातें स्मृति से ओझल हो ही जाती हैं, इस कारण पूर्व भव की बातें याद नहीं रहतीं।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग में जो सम्यक् दृष्टि देव होते हैं, वे जब सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवंतों की वाणी सुनते हैं तो उनमें यह भावना बलवती हो उठती है कि हमें भी मानव जीवन प्राप्त हो और धर्म का पालन कर हम भी शीघ्र मुक्ति में चले जायें। उनके यहां तक के विचार बतलाए जाते हैं कि वे श्रावक के पुत्र नहीं बन सके तो उनके दास बनने के भी इच्छुक रहते हैं। क्योंकि श्रावक के यहां जन्म लेने से उन्हें धर्म सुनने, समझने एवं आचरण करने को मिलेगा।



13

क्रिया-प्रतिक्रिया समीक्षण

- क्रिया के तीन रूप
- दो प्रकार से मन की प्रवृत्ति
- क्रिया की प्रवृत्ति शुभ में या अशुभ में
- सामायिक की क्रिया
- मन की क्रिया
- विचित्र रूप महायोगी का
- श्रेणिक की वार्ता प्रभु से
- वार्ता सुमुख-दुर्मुख की
- मन की तीव्र क्रिया-प्रतिक्रिया
- निज समीक्षण करें

tlx I Ppska tlxafol kgb

—उत्तराध्ययन सूत्र—26/53

योग सत्य से जीवन, मन, वचन और काय की क्रिया को विशुद्ध करता है।

विश्व के प्रत्येक मानव के पास तीन योग हैं— मन, वचन और काया। इन त्रियोगों की अशुभ प्रवृत्ति से आत्मा का अधःपतन हो जाता है और इन्हीं की शुभ प्रवृत्ति से आत्मोत्थान हो जाता है। आत्मोत्थान के लिये योग कषायजनित आत्मा की क्रिया का समीक्षण करना होगा। जब भव्य साधक अपनी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया का समीक्षण करने लगेगा और समीक्षण के साथ उन्हें अशुभ से हटाकर शुभ में नियोजित करेगा तो लक्ष्य तक पहुँच जाएगा।

**fut Lo: i I sfdj; k I k/ks rsv/; kre yfg; sjA****tsfdj; k djh pmxfr I k/ks rsu v/; kre dfg; sjAA****AA Jh Jş kd AA**

कवि ने श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना के साथ क्रिया विषयक चर्चा की है। संसार के समस्त प्राणी किसी न किसी प्रकार की क्रिया प्रति समय करते रहते हैं। क्रिया मुख्यतः योग के द्वारा की जाती है, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जिस शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, वह योग है। वह मन, वचन, काया के मुख्य माध्यम की अपेक्षा लेकर तीन प्रकार का है। मन योग के चार, वचन योग के चार और काय योग के सात मिलाकर योग के 15 भेद भी बन जाते हैं।

कर्मबद्ध समस्त आत्माएँ सिद्धान्त की दृष्टि से 24 दंडकों में विभाजित हैं। 24 दंडकों का ज्ञान तो आप लोगों को होगा ही। सभा में दृष्टि डालने से ज्ञात हो रहा है कि कई लोगों को नहीं होगा। अतः मैं ही आपको बतला देता हूँ कि सात प्रकार की नारकी का एक दण्डक, दस भवनपति देवताओं के दस दण्डक, व्यन्तर देवताओं का एक दण्डक, ज्योतिषी देवताओं का एक दण्डक, वैमानिक देवताओं का एक दण्डक, मनुष्य का एक दण्डक, पाँच स्थावर कायिक जीवों के पाँच दण्डक, बेइन्द्रिय का एक दण्डक, तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव का एक दण्डक। इस प्रकार 24 दण्डकों में सभी संसारी प्राणी आ जाते हैं। इन चौबीस ही दण्डकों में प्रत्येक दण्डक में किसी न किसी प्रकार का योग रहता है। तीन योगों में से नारकी, देवता, संज्ञी मनुष्य, संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय में तीन योग होते हैं। तीन विकलेन्द्रिय, असंज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय, असंज्ञी मनुष्य में मनोयोग रहित दो योग होते हैं। पांच स्थावर कायिक जीवों में एक काया योग ही पाया जाता है।

जिन जीवों के पास जितने योग विद्यमान हैं, वे जीव उतने ही योगों से क्रियाशील बन जाते हैं। चाहे एक योग हो या तीनों हों, क्रिया प्रतिक्रिया चलती रहती है।

क्रिया के तीन रूप

मन, वचन, काया के योगों से होने वाली क्रिया कर्म बन्धन का कारण बनती है। जिन क्रियाओं के साथ कषाय की प्रधानता होती है, वे क्रियाएँ अधिक कर्मों का बन्धन कराने वाली होती हैं। और जो योग सम्बन्धी

क्रियाएँ कषायरहित होती हैं वे क्रियाएँ आपेक्षिक दृष्टि से अल्पकर्म बंधाने वाली होती हैं। जैसे— प्रथम से लेकर दस गुण स्थानवर्ती आत्माओं में योग के साथ कषाय भाव भी होने से ग्यारह आदि गुणस्थानों में शमित—क्षपित की अपेक्षा अधिक कर्म बन्धन होता है।

कषाय के द्वारा मन, वचन, काय की क्रिया में अधिक परिस्पन्दन होने से कर्मों का भी गहरा बन्धन हो सकता है। लेकिन कषायरहित योग सम्बन्धी क्रियाओं में काषायिक परिस्पन्दन का अभाव होने से कर्म बन्धन अत्यल्प होता है।

ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में एक एर्यापथिकी क्रिया ही होती है। अतः वहां योग सम्बन्धित परिस्पन्दन अधिक कर्मबन्धन वाला नहीं होता है। पहले समय में कर्मबन्धन है तो दूसरे समय में छूट जाता है।

कषाययुक्त योग से सम्बन्धित क्रियाओं से यदि अनिकाचित कर्म बंधन हुआ हो तो उसे भी शुभ अध्यवसायपूर्वक सत्यपुरुषार्थ के द्वारा आत्मा से विलग किया जा सकता है।

शरीर क्रिया तो दुनिया की दृष्टि में आ जाती है। वचन की क्रिया भी दृष्टि में आ जाती है, परन्तु मन की क्रिया इतनी सूक्ष्म रहती है कि स्थूल दृष्टि में नहीं आ पाती है। मन की क्रिया अन्दर में हाती है। जिस प्रकार घड़ी के सैकिण्ड का कांटा अनवरत चलता रहता है, रुकता नहीं है। रुक जाय तो घड़ी ही बंद हो जाती है। उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक क्रिया अथवा दिल की धड़कन रूप क्रिया प्रतिक्षण चलती रहती है, यदि ये क्रियाएँ रुक जायें तो शरीर में स्थित चैतन्य ही स्थानान्तरित हो जाय, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है।

दो प्रकार से मन की प्रवृत्ति

मन की स्थिति दो प्रकार की होती है। एक मन बाहर में प्रवृत्ति कराने वाला होता है, तो एक मन भीतर में प्रवृत्ति कराने वाला होता है। जिन्हें वैज्ञानिक परिभाषा में कान्शियस माइण्ड तथा अनकान्शियस माइण्ड कहते हैं। अर्थात् भीतरी प्रवृत्ति का साक्षी अजाग्रत मस्तिष्क है, और बाहरी प्रवृत्ति का साक्षी जाग्रत मस्तिष्क है।

कई योगी योगबल के द्वारा बाहरी क्रियाओं को रोक लेते हैं। यहां

तक कि नाड़ी संचार भी रुक जाता है, तथापि उसके अन्दर में मानसिक क्रिया के साथ सूक्ष्म रूप से शारीरिक क्रियाओं का भी संचरण होता रहता है। जब तक इन त्रियोग से सम्बन्धित क्रियाओं को सही तरीके से नहीं समझेंगे तब तक धार्मिक क्रिया या आध्यात्मिक क्रिया को भी नहीं समझ पायेंगे। जब व्यक्ति का यह समीक्षण नहीं होगा कि जो क्रिया मैं कर रहा हूँ वह संसार बढ़ाने वाली है या संसार घटाने वाली है, भव परम्परा को बढ़ाने वाली है या भव परम्परा को उच्छिन्न करने वाली है, तब तक उसकी क्रिया यथार्थ दशा की ओर नहीं हो पाएगी। अतः क्रिया के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

क्रिया की प्रवृत्ति शुभ में या अशुभ में

मन, वचन और काया रूप योगों के द्वारा क्रिया की प्रवृत्ति शुभ कार्य में भी हो सकती है तो अशुभ में भी। हिंसात्मक कार्य में भी हो सकती है तो अहिंसात्मक कार्य में भी। जिस प्रकार सुई को सीने के काम में भी लिया जा सकता है, तो उसे किसी के चुभाया भी जा सकता है। कांटे से कांटा निकाला भी जा सकता है तो कांटे को शरीर में गड़ाया भी जा सकता है। इसी प्रकार त्रियोग से युक्त क्रिया के द्वारा आत्मा पर स्थित कर्मों की परतों को हटाया जा सकता है, तो उन्हीं त्रियोग से बंधित क्रियाओं के अशुभाचरण से आत्मा को कर्मों से मलीमष भी बनाया जा सकता है। मन, वचन, काय रूप क्रियाओं की प्रवृत्ति को किस प्रकार गतिशील करना चाहिए, इसका विवेक व्यक्ति को होना आवश्यक है। जब तक वह इस विवेक से अनभिज्ञ रहेगा तब तक आत्मा का मौलिक स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

tkx | Ppska tkxafol kjbA

योग सत्य से जीव मन, वचन, काया की क्रिया को विशुद्ध करता है। यह विशुद्धि योग समीक्षण से सम्बन्धित है।

सामायिक की क्रिया

सामायिक करना भी एक क्रिया है। प्रथम तो सामायिक करने का विचार ही बहुत कम लोगों के मस्तिष्क में आता है। जो लोग सामायिक करते भी हैं तो सामायिक की सारी क्रिया नहीं कर पाते हैं। बहुत कम साधक विधि सहित सामायिक करने वाले होंगे। कपड़े खोल कर श्वेत चादर ओढ़ लेना, मुख वस्त्रिका का लगा लेना, थोड़ी बहुत धार्मिक पुस्तक पढ़ लेना, माला फेर

लेना या और कुछ करके सामायिक पूरी कर लेना, यह सब सामायिक की ऊपरी क्रिया है। यद्यपि ये क्रियाएँ भी आपको आध्यात्मिकता की ओर बढ़ाने वाली हैं तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि हमारी सामायिक पूरी आ चुकी है। क्योंकि इतने मात्र से जो सामायिक उपलब्धि होनी चाहिये, जो क्षमता की मात्रा आनी चाहिये, जो सभी क्षण की साधना सधनी चाहिये, वह नहीं सध पाती। सामायिक की आराधना यदि सही ढंग से की जाये तो उससे साधक को बहुत-कुछ उपलब्धि हो सकती है।

आपने पूणिया श्रावक का नाम सुना होगा। पूणिया श्रावक भी तो आप ही की तरह श्रावक था। वह भी गृहस्थावस्था में रहकर सामायिक किया करता था, किन्तु उसकी सामायिक कितनी मूल्यवान थी? सम्राट् श्रेणिक का 52 डूंगरी सोना तो उसकी दलाली में भी पर्याप्त नहीं था। प्रभु महावीर द्वारा श्रेणिक के नरक टालने के बतलाये गये उपायों में एक उपाय यह भी था कि यदि वह पूणिया श्रावक की एक सामायिक खरीद ले, तो उसका नरक गमन टल सकता है।

बंधुओ! प्रभु ने सामायिक का कितना महत्त्व बतलाया है। सामायिक आप भी करते हैं। किन्तु वैसी विधि-क्रिया कितनी साधते हैं? यह बात आप अपने-अपने मनो में विचार लीजिये। यदि मैं सामायिक के 32 दोष पूछने बैठूँ तो बहुत कम व्यक्तियों को मालूम होंगे। इतने मात्र से आपको हताश नहीं होना है। किन्तु जो सामायिक आप करते हैं, लाभ उससे भी होता है किन्तु जितना होना चाहिए, उतना नहीं हो पाता। सामायिक की 48 मिनट की साधना में तथा अन्य गृहीत व्रतों में दोष लग जाते हैं, तो उनकी भी आलोचना आवश्यक है। जिससे प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण किया जा सके। बिना प्रायश्चित्त लिये ही कभी अनालोचित अवस्था में तथा कपटपूर्ण आलोचना के परिणाम में यदि आयुष्य बंधन भी हो जाता है, तो तिर्यच आयुष्य का बंधन भी हो जाता है। प्रभु ने अढ़ाई द्वीप के बाहर भी श्रावक बतलाए हैं। वे श्रावक तिर्यच होते हैं। जब-कभी संयोगवश उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हो जाता है, तब उन्हें ज्ञात होता है कि अहो! हमने मनुष्य जीवन में श्रावक व्रत अंगीकार किये थे। किन्तु व्रतों में जो दोष लगे, उनकी आलोचना, निन्दा नहीं की, परिणाम स्वरूप मरकर तिर्यच बन गए। इस प्रकार वे पश्चात्ताप करते हुए पुनः यथाशक्य श्रावक व्रत स्वयमेव ही अंगीकार कर लेते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सामायिकादि किसी भी व्रत की आराधना क्रिया को शुद्ध रीति से

करने का प्रयास करना चाहिये। यदि उसमें कोई दोष लग जाय तो आलोचना कर, प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण कर लेना चाहिये।

मन की क्रिया

कवि आनन्दघनजी का कहना है कि 'निज स्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यात्म कहिये रे।' जो क्रिया निज स्वरूप को बतलाने वाली होती है, उसे ही आध्यात्मिक कहा जा सकता है। मन की गति-क्रिया इतनी सूक्ष्म और तीव्र होती है कि जल्दी से साधक उसे पकड़ नहीं पाता। मन की गति-क्रिया को साधे बिना, समीक्षण किये बिना आत्म-स्वरूप सध नहीं सकता। आत्म-स्वरूप को साधने के लिये मन की गति का समीक्षण आवश्यक है। आगार अवस्था से हटकर अनगार अवस्था में विचरण करने वाला साधक भी मन की सूक्ष्म गति का यथायोग्य समीक्षण नहीं कर पाता है तो वह भी साधना पथ से गिर सकता है। मन का वेग किस तीव्रता के साथ बढ़ता है। शुभ की ओर गति करने वाला मन आत्मा को कहाँ से कहाँ तक पहुँचा देता है और अशुभ की ओर गति करने वाला मन आत्मा को कहाँ से कहाँ तक पहुँचा देता है, इसका समीक्षण किस प्रकार किया जाय इसके लिए मैं उदाहरण उपस्थित कर देता हूँ।

विचित्र रूप महायोगी का

राजगृह नगरी के बाहर, दोनों भुजाएँ ऊपर करके, सूर्याभिमुख हो, एक महायोगी ध्यान साधना में तन्मय बने हुए थे। प्रातः वेला में सम्राट् श्रेणिक भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करने के लिये नगर से बाहर निकले। नगर से बाहर निकलते ही उनकी दृष्टि ध्यान साधना में स्थित महायोगी पर गिरी। उनकी प्रखर ध्यान साधना को देखकर श्रेणिक का मस्तक श्रद्धावन्त हो गया। भाव-विभोर होकर सम्राट् ने महायोगी को वन्दन-नमस्कार किया और गुणशील उद्यान की ओर प्रस्थित हुआ। जब वह भगवान् महावीर के चरणों में पहुँचा, वन्दन-नमस्कार कर भगवान् की ओर आसन पर बैठ गया, तब तक भी उसके मन में राजगृह के बाहर ध्यानस्थ महायोगी के विषय में विचार चल रहे थे। आखिर सम्राट् ने संशयहर्ता, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पूछ ही लिया- भगवन् आपके शिष्य, जो नगर से बाहर सूर्याभिमुख हो, दोनों भुजाएँ ऊपर करके ध्यान में तल्लीन हैं, यदि वे इस समय काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो कहाँ जाय?

सम्राट के प्रश्न को श्रवण कर वीतरागी प्रभु ने, जिनको न अपनों पर राग था न अन्यों पर द्वेष, जो वीतराग अवस्था में रमण कर रहे थे, स्पष्ट फरमाया— श्रेणिक! यदि वह साधक उस समय आयुष्य बन्धन कर ले तो सातवीं नरक में जाय। भगवान् ने यह उत्तर देते समय नहीं सोचा कि मैं अपने शिष्य के विषय में ऐसा कहूँगा तो जनता क्या सोचेगी। लोगों की श्रद्धा उठ जायेगी, इसलिये यह बात नहीं कहनी चाहिए। परन्तु प्रभु ने जो बात जैसी थी, वैसी ही स्पष्ट कर दी। नीतिकार ने सत्य ही कहा है—

**i {ki krksu esohjk u }%dfi ykfn"ka
; (Dren-opua; L;] rL; dk; %ifjxgAA**

न तो मेरा प्रभु के प्रति राग है, न अन्य कपिलादि दर्शनों पर द्वेष ही। युक्ति—युक्त वचन जिसके भी हों, वही ग्राह्य हैं।

प्रभु ने अपने शिष्य के प्रति भी मोह न करके, सत्य बात को स्पष्ट कर दी। ऐसे वीतरागी देवों के वचन निश्चक ग्राह्य होते हैं।

श्रेणिक की वार्ता प्रभु से

सम्राट् श्रेणिक तो इस बात को सुनकर एकदम स्तब्ध हो गया। अहो! इतने बड़े योगी, इतनी कठोर साधना में तल्लीन, क्या वे भी सातवीं नरक में जा सकते हैं? प्रभु के वचनों में संदेह का तो कोई अवकाश ही नहीं है। इस प्रकार सम्राट् श्रेणिक के मन में विचार चल रहे थे। विचारधारा फूट पड़ी वचनों के माध्यम से— क्या भगवन् ऐसा भी हो सकता है? तब प्रभु ने कहा— राजन्! यदि इस समय वे योगी काल कर जायं तो देवलोक में जायं।

यह विचित्र बात सुनकर तो सम्राट् के मन में उथल—पुथल मच गई। अरे! कुछ क्षण पूर्व जिस योगी के लिये प्रभु ने नरक बतलाया, उसी योगी के लिये अब स्वर्ग बतला रहे हैं। यह विचित्र स्थिति कैसे बन गई? कुछ ही क्षणों में इतना परिवर्तन कैसे हो सकता है? कुछ समझ में नहीं आ रहा है। भगवान् का कथन तो अविद्य सत्य है। मेरी अल्प बुद्धि तथ्य को समझ नहीं पा रही है। बाहर से इतनी संयमपूर्ण अवस्था परिलक्षित होते हुए भी इतना परिवर्तन किस प्रकार हो जाता है? सम्राट् के मन में इस प्रकार विचार चल ही रहे थे। इतने में आकाश में देव दुंदुभि गूँज उठी। अहो ज्ञानं! अहो ज्ञानं की तुमुल उद्घोषणा होने लगी। इस तुमुल स्वर से सम्राट् श्रेणिक की विचारधारा टूट गई। वह सोचने लगा— यह आवाज कहां से आ रही है? दिव्य

ज्ञानी प्रभु तो यहाँ विद्यमान हैं, और देव किसके लिए— अहो ज्ञानं, अहो ज्ञानं की उद्घोषणा कर रहे हैं?

प्रभु घट—घट के अन्तर्यामी होते हैं, उनके ज्ञान में संसार की कोई भी वस्तु अदृश्य नहीं रहती है। कवि आनन्दघनजी ने कहा है—

**Jh Jş kd ftu vlrj tkeh] vkrejkeh ukeh jA
v/; kRe er ij.k ikeh] lgt eqfr xfrxkeh jAA**

यह बात श्रेयांस जिनेश्वर के लिए ही नहीं है। समस्त तीर्थकर अन्तर्यामी हैं। आत्मस्वरूप में रमण करने वाले हैं। तीर्थकर देव अध्यात्म ज्ञान में पूर्णता पाकर सहज ही मुक्तिगामी हो जाते हैं। प्रभु महावीर ने भी श्रेणिक की विचारधारा जान ली और कहा— सम्राट्! क्या सोच रहे हो? वही योगी, जिसके लिये तुम चिन्तन कर रहे थे, अब घनघाती कर्म को क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर चुके हैं। जितना ज्ञान मुझ में है, उतना ही ज्ञान उसकी आत्मा में भी उद्भासित हो चुका है। उनकी आत्मा इसी जगत् में मुक्तिगामी बन गई है अर्थात् वे योगी इसी भव में मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

सम्राट् ने, प्रभु के मुख से ज्यों ही यह बात सुनी तो उसकी जिज्ञासा की कोई सीमा नहीं रही। वह सोचने लगा— आज यह क्या हो रहा है? जो साधक कुछ क्षणों पहले महानरक में जाने की स्थिति में थे, वे ही साधक कुछ क्षणों के बाद स्वर्ग में जाने वाले बन गये, तथा अब तो केवलज्ञान, केवलदर्शन को पाकर मुक्तिगामी बन गये हैं। बड़ा विचित्र रहस्य है।

वार्ता सुमुख-दुर्मुख की

भगवान् क्या फरमा रहे हैं, आप! आपश्री के विशिष्ट ज्ञानलोक में आलोकित तथ्य को मेरी मति समझ नहीं पा रही है। यह तो सत्य है—

reD l Ppa.khl da tft.kfgaiob; A

वही सत्य है, जो जिनेश्वर देव द्वारा प्ररूपित है। भगवान्! आपके वचनों में मुझे कोई संदेह नहीं है। परन्तु मेरी जानने की जिज्ञासा है कि नरक—स्वर्ग, अन्य वर्ग की अवस्था योगी के जीवन में कुछ क्षणों में किस प्रकार परिवर्तित हो गई?

प्रभु ने समाधित किया सम्राट् की जिज्ञासा को— राजन्! इस

परिवर्तन के लिये बाहरी परिवर्तन होना आवश्यक नहीं है। स्थूल दृष्टि में अन्तरंग का परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता है। वह परिवर्तन समीक्षण दृष्टिपूर्वक अन्तरंग के ज्ञान से ही जाना जा सकता है। जिन योगी को तुमने सूर्याभिमुख होकर ध्यान साधना में देखा था उनके कानों में सुमुख और दुर्मुख नाम के दो व्यक्तियों के शब्द सुनाई दिये। सुमुख ने दुर्मुख से कहा— धन्य है ऐसे महायोगी को जो विशाल वैभव, साम्राज्य को त्याग कर कठोर साधना में तन्मय बने हुए हैं।

दुर्मुख को यह बात नहीं जँची, वह अपने नाम के अनुसार ही दुर्मति से सोचने लगा और बोला— सुमुख, तुम भोले हो, इस तथ्य को समझ नहीं पा रहे हो। यह महायोगी तो कायर है। इसने अपने अबोध बच्चे को 500 मंत्रियों के हाथों में सौंप कर दीक्षा अंगीकार कर ली है। वे 500 मंत्री गुप्त मंत्रणा करके इस निर्णय पर पहुँच गये हैं कि इस बच्चे को मारकर सारे राज्य को हथिया लें। वे इस फिराक में हैं कि कब बच्चे को मारें और कब राज्य हड़प लें। इसलिए मेरा यह कहना है कि वह योगी वन्दनीय कैसे हो सकता है जो अपने बच्चे की रक्षा नहीं कर सकता, वह अपनी क्या रक्षा करेगा?

मन की तीव्र क्रिया-प्रतिक्रिया

सुमुख और दुर्मुख दोनों के शब्द योगी के कानों में पड़े। मन ने शब्दों पर क्रिया-प्रतिक्रिया करना प्रारम्भ कर दिया। सुमुख के शब्दों को श्रवण कर वह प्रफुल्लित हो उठा तो दुर्मुख के शब्दों को श्रवण करते ही तीव्र क्रिया-प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो उठी। अहो ! क्या ये मंत्री मेरे बच्चे को मारकर राज्य हड़प लेंगे, मेरे रहते ही। नहीं, मैं ऐसा नहीं होने दूँगा, किसी भी हालत में मंत्रियों को हड़पने नहीं दूँगा। योगी भूल गये कि मैं तो “खंतो दंतो निरारंभो पवइसम्मणम गारियं” शान्त, दान्त, निरारंभ अणगार प्रव्रजित हो चुका हूँ। अब कौन मेरा है और मैं किसका हूँ। वे अपनी मूल स्मृति से विस्मृत हो गए। मन का वेग बड़ी तीव्रता के साथ प्रतिक्रिया करने लगा। मन के द्वारा ही कल्पित पांच सौ मंत्री सामने आ गये। मन से ही घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। अचूक निशाने के साथ कल्पित धनुष से कल्पित तीर छूटने लगे। एक के बाद एक मंत्री तीरों से आहत होते हुए खत्म होने लगे। इस प्रकार एक नहीं, दो नहीं, 499 मंत्रियों को भूमिसात कर दिया गया। एक मंत्री अवशेष रह गया। इधर तरकस में तीर खत्म हो चुके थे। क्रोधवश मन तीव्रता के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया में लगा हुआ था। योगी रूप सम्राट् ने विचार किया— खैर

तीर समाप्त हो गये तो कोई बात नहीं, मेरे मस्तक पर मुकुट तो विद्यमान है। मैं मुकुट को भी उतार कर इस तरीके से फेंकूंगा कि यह भी खत्म हो जायेगा। मुझे एक भी शत्रु को अवशेष नहीं रखना है। कितना आवेश, कितना क्रोध और कितनी हिंसात्मक भावना चल रही थी, योगी के मन में। उन्हीं तीव्र भावनाओं के साथ उनका ऊपरी उठा हाथ नीचे आने लगा। जब योगी के मन में इस प्रकार की तीव्रता चल रही थी, तब तुमने मुझे पूछा तो राजन् मैंने बतलाया— यदि उन योगी का उस समय आयुष्य बन्धन हो जाय तो सातवीं नरक में जाय।

कुछ ही क्षणों के बाद अर्थात् ज्यों ही उनका हाथ मस्तक पर गया और उनको भान हुआ— अहो, मैं तो साधु बन चुका हूँ। आगारी से अणगारी बन गया हूँ। भोग से योग की तरफ मुड़ चुका हूँ। अब मेरा है कौन? पुत्र, राज्य, परिवार की बात तो दूर रही, यह शरीर भी मेरा नहीं है। एक न एक दिन यह भी विलीन हो जायेगा। मैंने स्वत्व को भूल कर कैसा अकार्य कर डाला। अरे जहां साधक सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की हिंसा नहीं करता, वायु काय के रक्षण के लिए मुख पर मुख वस्त्रिका धारण करता है। उसके हिंसा का त्रिकरण, त्रियोग से त्याग होता है। वहां आज मैंने साधकावस्था में कितनी क्रूर मानसिक हिंसा कर डाली, अहो, मैं ऐसे पाप से अपनी आत्मा की “निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि” निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और ऐसे दुष्कृत्य को वोसिराता हूँ। इस प्रकार जब उनकी भावनाएँ, अध्यवसाय अशुभ से हट कर शुभ की ओर मुड़ने लगे, विचारों में तीव्रता के साथ समीक्षण होने लगा। जिन समीक्षणता में अशुभ विचार हटकर शुभ विचारों की प्रादुर्भूति उत्पत्ति होने लगी। तब जिन कर्मदलिकों का अशुभ रूप में संचय हो चुका था वे कर्मदलिक शुभ रूप में परिणत होने लगे। यह शुभरूपता वृद्धिगत होती चली गई। जब उनके विचार शुभ रूप में गति कर रहे थे तब राजन् मैंने यह कहा था कि यदि इस समय वे आयुष्य बंधन करें तो उच्च देवलोक में जावें। किन्तु देवानुप्रिय! उनकी भावना शुभ, शुभतर, शुभतम होती चली गई। वे गुणस्थानों पर आरोहण करने लगे। क्रमशः सातवें, आठवें गुणस्थान में आकर क्षपक श्रेणी में प्रवेश कर गए। अन्तर्मुहूर्त में ही वे नवां, दसवां, बारहवां गुणस्थान पार करते हुए घनघाती कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन पाकर, तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश कर चुके हैं। अन्तरंग के समीक्षण द्वारा जिन्होंने काषायिक क्रिया-प्रतिक्रिया को विनष्ट कर आत्मा का सही रूप में

संशोधन किया है। अर्थात् घनघाती कर्मों को विलग कर डाला और अन्त में मुक्ति को भी प्राप्त कर लिया।

सम्राट की जिज्ञासा शांत हुई।

निज समीक्षण करें

बंधुओ! यह तो एक रूपक है। चाहे यह किसी भी रूप में हो, किन्तु इससे यह तथ्य उजागर होता है कि मन किस प्रकार से तीव्र वेग से क्रिया-प्रतिक्रिया करने लगता है। जब आत्मा के विचार अधोगामी बनते हैं, तो आत्मा कहां से कहां पहुंच जाती है। देखिये! उन योगी का जीवन कहां से कहां तक पहुँच गया। मालूम है आपको! क्या नाम था उनका? वे योगी थे, "प्रसन्नचन्द्र राजर्षि" और जब उनके विचार ऊर्ध्वगामी बने और जीवन का सही समीक्षण होने लगा तो उनकी आत्मा नर्क, स्वर्ग से हटकर अपवर्ग में जा पहुँची। कवि आनन्दघनजी ने यही कहा है— "निज स्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यात्म कहिये रे।" जो क्रिया निज स्वरूप को प्राप्त कराने वाली है अर्थात् जिस क्रिया के करने से निज स्वरूप में निखार आता है वह क्रिया अध्यात्म क्रिया है। मानसिक क्रिया के साथ वचन और काया का पुट भी रहता है। आप सभी के पास में मन, वचन और काय— ये तीनों योग विद्यमान हैं। इनका किस रूप में प्रयोग करना— यह आप ही के ऊपर निर्भर है। वीतराग वाणी तो आपको श्रेयस् पथ की ओर इंगित कर रही है। यदि निज स्वरूप को पाना है, दबी हुई आत्मिक शक्ति को विकसित करना है तो जिस प्रकार की क्रिया प्रभु श्रेयांस ने की थी, उसी प्रकार मन, वचन, काय योग की क्रिया को आत्म समीक्षण में नियोजित करें।



14

निज स्वरूप क्या है?

- जीव और पुद्गल
- स्वभाव पर विभाव का आधिपत्य
- लक्ष्य सम्यक्दृष्टि आत्मा का
- चित्त संभूति अनगार
- मुनि प्रवर का भव्य उपदेश
- अध्यात्म और अनध्यात्म क्रिया के प्रतीक
- अध्यात्म क्रिया कौनसी?
- अध्यात्म क्रिया से निज रूप की अभिव्यक्ति

fut Lo: i tsfØ; k l k/ks rsv/; kre yfg; sjA
tsfdj; k djh pmxfr l k/ks rsu v/; kre dfj; sjAA

AA Jh Jş kd -----AA

i qj l k vÜkk.k&es vfhkfufxT> , oanØ[kk i ekØ[kfI

—आचारांग 3/3

हे पुरुष! तू अपने—आपका निग्रहण कर, अपने—आपके निग्रहण से ही समस्त दुखों से विमुक्ति हो जाएगी।

जब तक साधना में निज स्वरूप को जानने एवं अभिव्यक्त करने के लिए आत्मा की प्रवृत्ति नहीं होगी, तब तक आत्मा अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकती।

अध्यात्म की क्रिया वही है जिससे नर स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु जो क्रिया निज स्वरूप को अभिव्यक्त न कर संसार अभिवृद्धि कराने वाली हो, वह अध्यात्मिकी नहीं हो सकती।

क्रिया के दो रूपों से होने वाले परिणाम की अभिव्यक्ति चित्त—संभूति अनगार के घटना—क्रम से स्पष्ट हो जाती है।



बन्धुओ! निज स्वरूप क्या है? वास्तव में अपने—आपका स्वरूप क्या है? जब तक उसका बोध नहीं होगा, तब तक निज स्वरूप की साधना नहीं की जा सकती। आज के युग में साधना के विभिन्न प्रकार चल रहे हैं। इसी युग में ही नहीं, प्रभु ऋषभदेव के समय में भी 363 मतों का विस्तार हो चुका था। ये विभिन्न मत अपने—अपने स्वरूप को जानने के लिए साधना करने लगे। लेकिन स्वरूप साधना की कौनसी क्रिया है, इस ज्ञान के अभाव में उनकी क्रिया मुक्ति के स्थान पर संसार को बढ़ाने वाली बन गई।

साधना कितनी ही बड़ी हो, किन्तु निज स्वरूप के विवेक के अभाव में सही लक्ष्य प्राप्त ही नहीं करा सकती। जिस यात्री को इसका भी ज्ञान नहीं है कि मुझे कहां जाना है, वह यात्री कितनी ही यात्रा कर ले, किन्तु सही स्थान पर नहीं पहुँच सकता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

ekl sekl smtks ckykş dđ XxskarqHkqt bA

u l ksl q D[kk; /kEeLI] dYyavX/kbl kyfl AA

मास—मासखमण की तपस्या करने वाला अज्ञानी साधक जिसे लक्ष्य का यथार्थबोध नहीं है वह पारण के अन्दर भी, क्यों न कुश—डाम के अग्र भाग पर आए, उतना ही आहार करता है। किन्तु उसका आचरण श्रुताख्यात धर्म की सोलहवीं कला के बराबर ही नहीं है।

कवि ने इसलिए कहा है कि निज—स्वरूप का ज्ञान करके जो क्रिया की जाती है, वह तो अध्यात्म को प्राप्त करने वाली होती है, किन्तु जो क्रिया निज स्वरूपबोध प्राप्त किए बिना अज्ञान दशा में की जाती है, वह क्रिया चारगति रूप संसार को बढ़ाने वाली होती है। ऐसी क्रिया अध्यात्म क्रिया नहीं कही जा सकती।

जीव और पुद्गल

यह आत्मा अनादिकाल से जड़ पुद्गलों से सम्बद्ध बनी हुई है। जन्म—जन्मान्तरों से कर्म पुद्गलों से जकड़ी हुई होने के कारण उसे निज

स्वरूप का भान नहीं हो पा रहा है। निज स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए यह सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है। मनुष्य जीवन में ही स्व का परिपूर्ण समीक्षण किया जा सकता है। चारगति में यही एक ऐसी गति है जिससे आत्मा निज का समीक्षण करके लक्ष्य के चरम छोर पर जा सकती है। मनुष्य कितना ही वैभव पा जाय, संसार की समृद्धि भी प्राप्त कर ले, मानुषिक काम भोगों को भी विपुल मात्रा में प्राप्त कर ले, किन्तु उनसे उसे कभी भी आत्म समीक्षण नहीं होने वाला है। वर्तमान युग के अधिकांश मानव सांसारिक सुख-सम्पत्ति के पीछे स्व को भूलते जा रहे हैं। उनकी प्रत्येक गतिविधि भौतिक पुद्गलों को प्राप्त करने में ही लगी हुई है। लेकिन उन तत्त्वों से आज तक सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं कर पाये हैं। क्योंकि उन भौतिक तत्त्वों में वास्तविक सुख का अंश भी विद्यमान नहीं है। इतना होने पर भी मानव का भौतिक पुद्गलों की ओर आकर्षित होने का यही कारण है कि जन्म-जन्मान्तर से उसकी आत्मा उन्हीं पुद्गलों से सम्बद्ध रही है। जो व्यक्ति गन्दगी में रहने के अभ्यासी हो जाते हैं, तो उन्हें कितना भी सुगन्ध में ले जाने का प्रयास किया जाय तथापि वे गन्दगी में जाना ही अधिक पसन्द करते हैं। बहुत दुर्लभ व्यक्ति होते हैं जो गन्दगी से हटकर सुगन्ध में आ पाते हैं। ठीक इसी प्रकार यह आत्मा भी अनादि काल से वैभाविक तत्त्वों की ओर आसक्त रही है। अतः अब भी उसे वैभाविक तत्त्व ही अच्छे लगते हैं। वह उन्हें पाने के लिए दौड़ती है। बहुत कम आत्माएं ऐसी होती हैं, जो वैभाविक तत्त्वों से हटकर स्वाभाविक आत्म-स्वरूप की ओर आकर्षित बनती हैं।

स्वभाव पर विभाव का आधिपत्य

षट्द्रव्यात्मक लोक कहा गया है। षट्द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय। सम्पूर्ण लोक में इन षट्द्रव्यों का अस्तित्व शाश्वत रूप से विद्यमान है। धर्मास्तिकाय, चलन क्रिया में, अधर्मास्तिकाय स्थिर क्रिया में, आकाशास्तिकाय, अवगाहन में सहयोगी बनते हैं। काल परिवर्तन में हेतु है। संसार में परिलक्षित विचित्रता में हेतु मुख्यतया पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय है। जीव और पुद्गल के संयोग से संसार में विविधता दिखलाई देती है। प्राणीवर्ग अनादि-अनन्त काल से पुद्गलों से सम्पर्कित रहा है। आत्मा जब पुद्गलों के साथ अपना अभिन्न सम्बन्ध जोड़ लेती है, तब आत्मा मौलिक स्वरूप को भूल जाती है।

कोई भी पुद्गल कभी भी शाश्वत रूप से उसी रूप में नहीं रहते हैं। अर्थात् कोई भी कर्म हो, अपनी काल मर्यादा बीतने के बाद आत्मा से विलग हो जाता है। पुद्गलों का संयोग-वियोग बना ही रहता है। जब आत्मा अपने स्वभाव का समीक्षण कर सत्पुरुषार्थ की ओर गतिशील होती है, तब कर्मों का आत्मा से अपुनर्भाव के रूप में विलगीकरण हो सकता है।

श्रेयांस प्रभु ने स्व-भाव का समीक्षण कर लक्ष्य पर सतत प्रयाण किया था। परिणामतः उनकी आत्मा से वैभाविक तत्त्व हटते चले गये। स्व-स्वरूप निरन्तर निखरता चला गया। अनन्त प्रभु ने अपुनर्भाव से समस्त कर्मों का क्षपण कर मुक्तावस्था प्राप्त कर ली। आज जितनी भी आत्माएं संसार में परिभ्रमण कर रही हैं, उनका मूलतः हेतु वैभाविक तत्त्वों का आत्मा पर आधिपत्य है। जिसमें आत्मा की स्वाभाविक क्रिया गौण हो जाती है और वैभाविक क्रिया मुख्य बन जाती है।

लक्ष्य सम्यक्दृष्टि आत्मा का

जब से आत्मा सम्यक्दृष्टि अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब से उसका लक्ष्य निज-स्वरूप को साधने का बन जाता है। सम्यक्दृष्टि आत्मा जड़-चैतन्य के स्वरूप को समझने लगती है। पुद्गल मेरा साध्य नहीं है। आत्मा पुद्गलों से प्रतिबंधित है। मेरा लक्ष्य आत्मा को वैभाविक तत्त्वों से हटा कर शुद्ध स्वरूप में ले जाना है। इस प्रकार के आत्मिक बोध के साथ सम्यक्दृष्टि आत्मा विकास मार्ग पर बढ़ने लगती है। एक दृष्टि से विचार किया जाय तो सम्यक्त्व अवस्था आत्म विकास का प्रथम चरण है। जब तक लक्ष्यानुरूप गति नहीं होती, तब तक आत्मा अभीष्ट अर्थ सिद्ध नहीं कर सकती। सम्यक् अवस्था निज स्वरूप का विज्ञान कराने का प्राथमिक प्रयास है। सम्यक् बोध पा लेने पर आत्मा के विकास क्रम का सही लक्ष्य बन जाता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा निश्चित रूप से एक न एक दिन मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

सम्यक्दृष्टि आत्मा के परिपूर्ण विकास क्रम में मानव देह बहुत सहायक बनता है, मानव तन में रह कर आत्मा परिपूर्ण विकास की दिशा में गतिशील बन सकती है। सिद्ध स्वरूप में रमण करने वाली आत्माओं ने सिद्धावस्था की प्राप्ति इस मानव तन से ही की थी, यह शाश्वत सत्य है कि निज स्वरूप में परिपूर्ण निखार मानव तन से ही मिलता है।

प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा को परिपूर्ण विकास की प्राथमिक भूमिका सम्यक्त्व की प्राप्ति होना आवश्यक है। मानव देह से जहाँ सम्यक्दृष्टि आत्मा आत्मदीप जगा सकती है, तो उसी मानव देह से आत्मा पतन की ओर भी जा सकती है। भव्य आत्माओं को उन्नति का सम्यक् बोध प्राप्त कर प्रवृत्ति की दिशा में बढ़ना चाहिए।

चित्त-संभूति अन्गार

निज-स्वरूप की साधना के लिए प्रस्थित हुए थे चित्त और संभूति। दोनों हरिजन पुत्र सहोदर भ्राता थे। नागरिक लोक हरिजनों को निम्नतम जाति का बतला कर उनकी निन्दा करते थे। चित्त-संभूति की गायन-कला बहुत ही सुमधुर थी। किन्तु जब भी वे गाने लगते, निम्न जाति का होने के कारण उनका अपमान कर दिया जाता था। इस प्रकार के अपमान के कड़ुवे घूट को बार-बार पीने की स्थिति में वे नहीं थे, दोनों ने मिलकर विचार किया और वन अटवी की ओर प्रस्थान कर गए। भयानक अटवी में जाकर उन्होंने उत्तुंग शिखर वाला एक पहाड़ देखा। अब तो भृगुपात पहाड़ से गिर कर प्राणाहरण करना ही उचित है। इन विचारों के साथ ज्यों ही वे पर्वत के शिखर पर पहुंचे तो वहाँ पर धवल वस्त्र से सुशोभित, कृश शरीर किन्तु दमकती हुई देहश्री से चमत्कृत ध्यानस्थ योगी के दर्शन कर दोनों को एक विलक्षण प्रकार की शान्ति का अनुभव हुआ। वन्दन करने के अनन्तर मुनि पुंगव के सुखद सान्निध्य में उपविष्ट हुए।

ध्यान को पूर्ण कर ज्यों ही साधक के नेत्रों का उन्मीलन हुआ तो सुदृढ़ देह वाले दो युवा पुरुषों को सामने (समक्ष) पाया। मुनिवर की करुणामय दृष्टि के वर्षण से दोनों की अन्तर्वेदना हिम की तरह पिघलती ही चली गई। अन्तर्वेदना की मूक अभिव्यक्ति ही मुनि प्रवर के लिए पर्याप्त होती है।

मुनि प्रवर का भव्य उपदेश

दोनों की अन्तर्वेदना को समझते हुए मुनिवर ने पतितपावन क्लेदोपहारक उद्बोधन किया—

भव्य पुरुषों को दुःख विमुक्ति और शांति की अवाप्ति कभी प्राणापहरण से नहीं मिलती। प्राणापहरण (आत्महत्या) वस्तुतः दुःखमुक्ति नहीं, अपितु दुःख की दीर्घ परम्परा को बढ़ाने वाला महाद्वार है। भद्रिक आत्मा थोड़े से घबरा कर अमूल्य जीवन को समाप्त करने के लिए तत्पर हो जाती है किन्तु वह यह नहीं

समझ पाती कि इस कुकृत्य का कितना कटु परिणाम आने वाला है।

शास्त्रकारों ने आत्मघाती को महापापी कहा है। जो व्यक्ति अपने ही ऊपर वार करना चाहता है उस व्यक्ति के कितने क्रूर परिणाम बनेंगे, जिसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती।

जान-बूझकर जब एक छोटे-से जन्तु की भी हत्या करनी होती है, तब मन में कितने क्रूर परिणामों का संचय करना होता है। और पंचेन्द्रिय प्राणी, उसमें भी मनुष्य की हत्या करने के लिए तो न मालूम कितने क्रूर परिणामों का संचय अपेक्षित होता है। इन सबसे भी बढ़कर जब अपना ही प्राणापहरण करने की स्थिति आती है, तब मन को इस भयंकर हिंसा करने के लिए कितना मजबूत करना होता है। ऐसी भयंकर हिंसा आत्मा को निश्चय ही पतन के अंधकूप में गिरा देती है।

सुज्ञ पुरुषो! तुम दोनों तो बुद्धिमान हो, विद्या और कला में निष्णात हो, सर्वांगों से परिपूर्ण हो, इतना सब-कुछ होते हुए भी मात्र तथाकथित अछूत के अपमानों का घूट न पी सकने के कारण कितना बड़ा कुकृत्य करने के लिए तत्पर हो रहे हो, जो कतई योग्य नहीं है।

अब जाग्रत हो जाओ! जिनवाणी का संबल पाकर आत्मसिद्धि के लिए तत्पर हो जाओ! जिनेश्वरों का यह तुमुल उद्घोष है—

i | j | k vÜkk.k&eø vñkufufXT>]

, oanØ[kk i ekD[kfi A

हे पुरुष! तू अपने-आपका निग्रहण कर, अपने-आपके निग्रहण से ही समस्त दुःखों से मुक्ति हो पाएगी। आत्मत्व की दृष्टि से चराचर लोक की समस्त आत्माएं समान हैं। उनमें जाति-पांति का कोई भेदभाव है ही नहीं। संसार की कोई भी आत्मा परम स्वरूप की प्राप्ति के लिए चरम पुरुषार्थ द्वारा अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है।

मुनि प्रवर की अभियवाणी में सराबोर होती हुई उनकी प्रसुप्त अन्तरात्मा जाग्रत हो उठी। सही पथ प्रदर्शन जो मिल गया था। जीवन्त साधना को अपनाते के लिए दोनों ने तत्क्षण संकल्प शक्ति की दृढ़ता के साथ जीवन का आमूलचूल परिवर्तन कर डाला। पतन से उन्नति की ओर बढ़ चले। आगारी से अणगारी बन गए। बाह्य संस्कार को त्याग कर अन्तरंग को संस्कारित करने में तन्मय हो गए।

अध्यात्म और अनध्यात्म क्रिया के प्रतीक

साधना की श्रेणी पर आरोहण करने वाले दोनों युवा मुनि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना के साथ तपाराधना में विशेषतः तल्लीन बने हुए थे। हस्तिनापुर में मासखमण के पारने के लिए भिक्षार्थ जाते समय संभूति अणगार को नमुचि मंत्री द्वारा दिए गए त्रास से उनका प्रसुप्त क्रोध फुफकार उठा। स्थान पर आकर तेजो-लेश्या के प्रभाव से हस्तिनापुर के आकाश को अंधकार एवं ज्वाला पटल से व्याप्त कर दिया।

इस भयानक स्थिति को उपशांत करने के लिए स्वयं चक्रवर्ती सनत्कुमार अपनी पटरानी सुनन्दा के साथ संभूति अणगार के चरणों में उपस्थित हुए। प्रणतिपूर्वक विनम्रता के साथ अविनय की क्षमायाचना करने लगे। कई स्थलों पर ऐसा भी मिलता है कि सुनन्दा पटरानी ने भक्ति की अतिरेकता में मर्यादा को भूलकर संभूति अणगार के चरण स्पर्श कर लिए।

इस स्पर्श सुख के अनुभव ने संभूति अणगार के साधना रूप समुद्र में चांचल्य रूप उत्ताल तरंगों पैदा कर दीं। उनका जीवन, जो निज स्वरूप की साधना की ओर अग्रसर था, वही बाह्याभिमुखी होने लगा। चित्त अनगार ने बहुत समझाया— निदान और बाह्याभिमुखी साधना के कटु परिणामों पर मार्मिक सन्देश दिया, किन्तु संभूति अनगार के संयम समुद्र में जो उत्ताल तरंगें उठ चुकी थीं वे शान्त नहीं हो पाईं। कहीं-कहीं घटनाक्रम इस प्रकार भी मिलता है कि चित्त अनगार संभूतिजी को समझा रहे थे कि शान्त हो जाओ! देखो, तुम्हारे से माफी मांगने के लिए स्वयं चक्रवर्ती एवं उनकी पटरानी आई हैं। तब संभूति ने सोचा कि देखूं तो सही, चक्रवर्ती एवं उनकी पटरानी श्रीदेवी कैसी होती हैं? इसी दृष्टि से उन्होंने आँख खोली और पटरानी के रूप पर मोहित होकर निदान कर बैठे। खैर, रूपक कैसा भी हो! आखिर उन्होंने प्रतिज्ञा कर ही ली— “यदि इस तपस्या का यत्किंचित फल हो तो मैं आगामी भव में चक्रवर्ती बनूँ।”

बस, फिर क्या था? अध्यात्म का जीवन, जो साधना को उन्नति की ओर बढ़ा रहा था, वही अब पतन की ओर बढ़ने लगा। साधना आध्यात्मिकी न रहकर भौतिकी बन गई। यह निदान श्वेत पौष्टिक दुग्ध में फिटकरी का काम करने लगा। अन्ततः साधक—जीवन पतन की ओर उन्मुख हुआ, क्यों न चक्रवर्ती पद की प्राप्ति कर ली जाय, किन्तु अन्ततः परिणाम भयानक ही

निकला। इधर चित्त अणगार ने अपने संयमी समुद्र को शान्त एवं प्रशान्त ही बनाए रखा। अन्ततः उन्हें अध्यात्म—साधना का अमर फल प्राप्त हो ही गया।

अध्यात्म क्रिया कौनसी?

कथा का कलेवर बहुत विशाल है— सज्जनों! पर कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जब आत्मा निज स्वरूप की साधना के लिए प्रयत्नशील हो जाती है तब वह अध्यात्म भाव को प्राप्त कर लेती है। परम अध्यात्म की अभिव्यक्ति ही चरम सुख को प्राप्त कराने वाली होती है, किन्तु जब क्रिया की आराधना आत्माभिमुख न होकर बाह्याभिमुख होती है, तब वही साधना आत्मा को चार गति—चौरासी लाख जीव योनियों में इतस्ततः परिभ्रमण कराने वाली होती है। ऐसी साधना को कभी भी अध्यात्म साधना नहीं कह सकते।

आज के कई साधक साधना के सच्चे स्वरूप को न समझकर आराधना करने वाले अध्यात्म पथ से च्युत हो जाते हैं, बाह्य रूप से तो यही लगता है कि उनकी आत्मा अध्यात्म की साधना में प्रवृत्ति कर रही है, किन्तु यथार्थ में वह अध्यात्म साधना न होकर बाह्य-भौतिकी साधना होती है।

जिस साधक के मन के छोटे-से कोने में भी यह भावना रही है कि मेरी साधना से लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़े। मेरी यश—कीर्ति का प्रसार हो, ऐसे साधक की साधना बाह्य रूप से कितनी ही कठोर एवं अध्यात्म प्रसाधिका हो, किन्तु यथार्थ में वह भौतिकी होती है। शास्त्रकारों ने यह स्पष्ट कहा है—

i w .kVBk t l kdkhj ek.kl Eek.k dke, A

cgq i l obz i koj ek; k l Yyap dlobAA

जो साधक पूजा—प्रतिष्ठा के चक्कर में रहता है, मान और सम्मान की कामना जिसे घेरे हुए है, उसके लिए माया शल्य—बाह्य रूप से प्रतीयमान अध्यात्म साधना को करने वाला साधक बहुत—से पाप कर्म का ही संचय करता है।

अध्यात्म क्रिया से निज रूप की अभिव्यक्ति

सुज्ञो! अध्यात्म की साधना के लिए निश्चय ही सबसे पहले निज स्वरूप को साधने के लिए प्रवृत्ति करनी होगी।

कवि ने इसी बात को कविता के माध्यम से स्पष्ट किया है—

fut Lo: i tsfdj; k l k/ks

rsv/; kRe yfg; sjA

tsfdj; k djh pmxfr l k/ks

rsu v/; kRe dfg; sjAA Jh J\$ kd ftu-----

श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना भव्य आत्माओं को निज स्वरूप को साधने के लिए प्रेरित कर रही है। जितने भी तीर्थकर भगवंत होते हैं, वे सभी सर्व प्रथम निज-स्वरूप की समीक्षा करते हैं। निज-स्वरूप की अभिव्यक्ति होने पर ही देशना सुधा के माध्यम से अन्य प्राणियों को उद्बोधित करते हैं।

अध्यात्म साधना द्वारा, जिज्ञासु आत्माओं को निज-स्वरूप की जागृति कराने वाली क्रियाराधना को भी जानना होगा।

आत्मा की परम सिद्धि को पाने के लिए जो भी साधक निज-स्वरूप की साधिका अध्यात्म की क्रिया में शामिल होगा व समीक्षण दृष्टि अपनाएगा वह अवश्य ही अभीष्ट को प्राप्त करने में सफल हो सकेगा।



15

आत्मा से आत्मा का समीक्षण

- विश्व के छः प्रतिनिधि
- खिलौने आत्मा के
- संसारी आत्मा के विभाव परिणाम
- प्राणियों के विविध रूप
- अमूल्य क्षण मानव जीवन के
- ' शैवालाच्छादित कछुआ : कर्माच्छादित आत्मा
- सम्यक् दृष्टि का स्वरूप
- निज स्वरूप क्रिया साधे : चउगति साधे के प्रतीक
- संपेहए अप्पगमप्पएणं

विश्व के छः प्रतिनिधि

**Jh Jş kl aftu vlrj tkeh] vkrejkeh ukeh jA
v/; kre in ij.k ikeh] lgt exfrxfr xkeh jAA
fut Lo: i tsfdj; k l k/ k rsv/; kre yfg; sjA
tsfdj; k dfj pmxfr l k/ k rsu v/; kre dfj; sjAA**

बंधुओ! प्रातःकाल का समय प्राकृतिक दृष्टि से सुहावना समय है। जीवन में नई स्फूर्ति और नई प्रेरणा देने वाला है। मनुष्य का जीवन प्रकृति से बहुत प्रभावित है और प्रकृति का प्रभाव हर प्राणी पर पड़ता ही है। संवेदनशील मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रकृति का अधिक असर तब होता है जब उसका चिन्तन अन्वेषणात्मक दृष्टि से, खोज की दृष्टि से रहस्य को पाने की कोशिश करता है।

इस नैचुरल रचना में जितने सदस्य रहे हुए हैं, उनमें एक ही सदस्य ऐसा है कि जिसने अपने नैसर्गिक, प्राकृतिक स्वभाव को छोड़कर पर पदार्थों को पाने की चेष्टा की है। उसका स्वभाव इतना जबरदस्त है कि पर्याय की दृष्टि से भले ही वह झुकता हो, परन्तु स्व-स्वरूप की दृष्टि से कभी नहीं झुकता है। इन छः खिलाड़ियों में मनुष्य रूप से वह द्रव्य प्रधान रूप से रहा हुआ है। प्रधान से तात्पर्य, सब से अधिक शक्तिसम्पन्न माना गया है। इसमें जो शक्ति है, जो विवेक का दीपक है, जो क्षमता है, वह क्षमता अन्य सदस्यों में नहीं। आप कभी कल्पना कर बैठेंगे कि महाराज ने सृष्टि के छः सदस्य बताए हैं। जैसे चैतन्य एक सदस्य है, वैसे ही अवशेष जो पांच हैं, वे भी जीव होंगे। क्योंकि आम जनता में सदस्यों की परिभाषा समान स्तर के आदमियों से ली जाती है। उसका मतलब है— दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, नाक, कान वाले। किसी परिवार में दो सदस्य, तो किसी परिवार में छः सदस्य हैं।

वैसे ही ये भी कोई छः सदस्य होंगे। लेकिन वैसी बात नहीं है। मैं जो अभी जिन सदस्यों की बात कर रहा हूँ तो वे छः द्रव्यों से सम्बन्धित हैं— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय। वे एकाकाश में रहने की दृष्टि से एक परिवार के रूप में

कहे जा सकते हैं। ये पांच द्रव्य की संज्ञा पाते हैं और जीव भी द्रव्य की संज्ञा पाता है। मैंने सदस्यों की दृष्टि से कहा है न कि जीव है इस दृष्टि से। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय भी एक स्वरूप से विद्यमान है। आकाश भी इसी स्वरूप से विद्यमान है। इनके मूल में परिवर्तन नहीं होता। इनमें जो स्वभाव हैं वे तो रहेंगे ही और पुद्गल द्रव्य भी इस संसार में सर्वत्र दृष्टिगत हो रहा है। काल— यह औपचारिक द्रव्य भी और काल द्रव्य के रूप में माना गया है। इन पाँचों के रूप में जो चैतन्य आत्मा है वही इन पुद्गलों को ऊँचा—नीचा करता रहता है। इन पदार्थों के साथ ज्यादा प्रीति आत्मा ही करता रहता है, क्योंकि खेलने का स्वभाव, रमण करने का स्वभाव आत्मा का ही है। वह अपने स्वरूप में रमण करना भूल जाता है तो वह पर पदार्थों में रमण करने लगता है।

खिलौने आत्मा के

बच्चा बचपन की अवस्था में खेलना पसंद करता है। वह खिलौनों से खेलता है, परन्तु बच्चे की वह खिलौने से खेलने की आदत, ज्ञान के अभाव में मनोविनोद की आदत है। जैसे बच्चे की आदत मिट्टी के खिलौने से खेलने की है, वैसे ही इस आत्मा की आदत भी बच्चे के तुल्य बनी हुई है। बच्चा रंग—बिरंगे मिट्टी के बनाए हुए खिलौने से खेलता है वैसे ही यह अपने हाथ के बनाये हुए खिलौनों से खेलता है। आप जरा गम्भीरता से चिन्तन कीजिए। बड़े—बड़े बंगले किसने बनाए? फर्नीचर का सामान किसने सजवाया? ताश, चौपड़ किसने बनवाए? ताश चौपड़ स्वयं में तो नहीं समझते हैं कि हम ताश, चौपड़ हैं, परन्तु ताश, चौपड़ को बनाने वाली आत्मा है, और खेलने वाली भी आत्मा है, और उन्हीं से वह खेलती है, मनोविनोद करती है। सिनेमाघर (टॉकिज) किसने बनवाए, और फिल्म किसने बनाई? वहीं इसमें आत्मा जाकर बैठती है, दूकान पर जाकर बैठती है, तो यह खिलौनों का व्यपार करती है। मिट्टी से आप सब तरह की मिट्टी ले सकते हैं, इसमें सख्त और कोमल भी है। सोना, चाँदी ये भी मिट्टी के सख्त रूप हैं। सोना, चाँदी गये तो नोट आए। ये भी तो उस तत्त्व के बने हुए हैं। अधिकांश तत्त्व इसी मिट्टी से बने हुए हैं।

संसार की आत्मा के विभाव परिणाम

जो दृश्य पदार्थ हैं— नजर आ रहे हैं वे भी अधिकांश रूप से मिट्टी पुद्गल से बने हैं और आत्मा उन्हीं खिलौनों से खेल रही है, और इनमें ही आनन्द मानती है। क्या कभी इन खिलौनों से विराम लेने की मन में आती है? कभी इन खिलौनों से खेलने की अनिच्छा भी होती है? या वह दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती ही रहती है? छोटे बच्चे तो उनको जल्दी छोड़कर दूसरी तरफ आ जाते हैं, परन्तु ये बड़े-बड़े, इनको बच्चे कहें या क्या? जो इन पदार्थों में रमण करते हैं, अपने को भूल जाते हैं तो वे बच्चे ही हैं। उन्होंने अपने-आप का घेरा बना रखा है। उसी चार मस्तिष्क में इनका घूमना होता है। उसी में आनन्द लेते हैं। रात और दिन मस्तिष्क में एक ही चक्कर घूमता रहता है। कैसे धन पैदा किया जाय? यश, कीर्ति पैदा की जाय, लेकिन वह यह नहीं सोच पाता कि ये सब वैभाविक परिणाम यथार्थ में शांत प्रदायक नहीं हैं।

प्राणियों के विविध रूप

शास्त्रकार ने संक्षिप्त में जो छः प्रकार के जीव बताए, इनमें पाँच स्थावर और छठा त्रसकाय है। स्थावर में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति हैं, और छठा त्रसकाय। अब पाँच जो हैं ये दो प्रकार के हैं— एक सूक्ष्म और एक बादर। बादर तो हमको दिखते हैं, यह वृक्ष दिखता है, मिट्टी दिख रही है, यह तो जमीन में रहती है, परन्तु सूक्ष्म जो पाँच स्थावर हैं, चौदह राजलोक में ढूँस-ढूँस कर भरे हुए हैं। उनके ऊपर कोई शस्त्र लगता नहीं, जलाये जलते नहीं, काटे कटते नहीं। चाहे आज के शस्त्रों का प्रयोग करलें तो भी सूक्ष्म कटते नहीं, वे आयुष्यपूर्ति से ही मरते हैं। जहाँ सिद्ध लोक है वहाँ भी भरे हुए हैं। हमारी आत्मा सूक्ष्म एकेन्द्रिय में जन्मी या नहीं? एक बार नहीं अनेकों बार जन्मी है। सिद्ध क्षेत्र में भी जन्म ले चुकी है, किन्तु जैसे नशे में व्यक्ति पड़ा रहता है। नशे में, बेभानी में यदि तीर्थकरों के सान्निध्य में चला जाय, तब भी समझता है कि मैं तीर्थकर भगवान के सान्निध्य में हूँ। हमारी आत्मा एक नहीं अनन्त बार सिद्ध भगवान् के पास जा चुकी है, परन्तु वहाँ अपनी आत्मा का अभीष्ट नहीं सधा।

अमूल्य क्षण मानव जीवन के

मनुष्य में आकर अभीष्ट साध्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। जहाँ देवों की उत्कृष्ट स्थिति तैत्तीस सागरोपम की बताई है। ऐसी

लम्बी जिन्दगी का बन्धन भी मानव जीवन के चंद्र क्षणों में ही कर लेता है, तब विचार कीजिये कि वहाँ की इतनी लम्बी जिन्दगी महत्त्वपूर्ण है या मनुष्य की जिन्दगी का एक मिनट महत्त्वपूर्ण है? एक मिनट का मूल्य जितना मनुष्य जीवन में है, वह तैत्तीस सागर का मूल्य नहीं है। उस देव भव में वह निज स्वरूप की परिपूर्ण साधना करने में समर्थ नहीं है। वहाँ जितनी पुण्यवानी है, बस उसका उपयोग किया जाता है, यहाँ जो पुण्यार्जन किया है, उसका फल वहाँ भोग रहे हैं, परन्तु आत्मदर्शन करने का अवसर वहाँ नहीं मिलता है। और यहाँ मनुष्य जन्म में यदि साधना करें, मिट्टी के खिलौनों से ऊपर उठें और इनसे विराम लें तो बच्चा भी समझ जाता है जो उन खिलौनों को छोड़कर, दूसरे खिलौने पकड़ लेता है। वैसे ही मैं कहूँ कि आप नैसर्गिक स्वभाव में आ जायें और कर्मों की दीवार को हटालें तो जो आनन्द आपको मिलेगा उसे आप तीन काल में भी नहीं भूल पायेंगे, फिर ये संसार के खिलौने पसन्द नहीं आयेंगे, परन्तु उनको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। प्रयत्न के बिना सहज साध्य नहीं है।

शैवालाच्छादित कछुआ : कर्माच्छादित आत्मा

कभी-कभी ज्ञानी जन इसको स्पष्ट करने के लिए रूपक भी देते हैं कि एक बावड़ी पानी से लबालब भरी हुई थी। जब पानी काम में नहीं आता तो उस पर कांजी, शैवाल का इतना स्तर जम जाता है कि पानी नहीं दिखता है। उसी बावड़ी में कछुआ और उसके परिवार के सदस्य रहते थे। संयोगवश ऐसी आंधी चली कि थोड़ी शैवाल हट गई, और वहाँ पर एक कछुआ बैठा हुआ था, उसकी दृष्टि आकाश की तरफ गई कि अजीब है। यह क्या? पूर्णिमा की चाँदनी छिटक रही है। चाँद प्रकाश दे रहा था और तारे टिमटिमा रहे थे। विशाल आकाश को देखकर उसे आश्चर्य हुआ और सोचा कि मैं ऐसा दृश्य परिवार वालों को दिखला दूँ, वह बुलाने के लिए गया परिवार के सदस्यों को और इधर संयोगवश दूसरा आंधी का झोंका आया और शैवाल से छिद्र पुनः भर गया। कछुआ लाया परिवार के सदस्यों को, लेकिन वह आकाश नहीं दिखा सका। तब दूसरे ने कहा कि इस काई और बावड़ी से बढ़कर दुनिया में कुछ नहीं है। वह कहता है कि मैंने अभी-अभी इतना बड़ा आकाश देखा, चन्द्रमा देखा एवं चन्द्रमा की चाँदनी देखी, तारे देखे जिनका वर्णन नहीं कर सकता हूँ तो वे कहने लगे कि बताओ! वह हैरान है,

परन्तु वह इस दृश्य को भूल नहीं सकता है। वैसे ही इस मनुष्य जन्म में रहने वाली आत्मा पर-पदार्थों से वास्ता रखे हुए है और अपने निज स्वरूप को नहीं पहचान पा रही है। कारण आत्मा के ऊपर मोह कर्म की शैवाल छाई हुई है। यह ऐसी आत्मा पर छाई हुई है कि छिद्र नहीं मिलता है। कभी-कभी उपदेश सुनते हैं, धर्म करनी करते हैं, नियमित रूप से चिन्तन मनन करते हैं। ध्यान और स्वाध्याय करते हैं तो उन बादलों की तरह मोह कर्म का कुछ छिद्र हट जाय, तो जो उसको आनन्द प्राप्त होगा वह नहीं भूला जा सकता है। वह भले ही खुले मन से व्यापार करेगा परन्तु उसमें रमेगा नहीं।

सम्यक्दृष्टि का स्वरूप

सम्यक्दृष्टि के लिए आया कि-

I E; dnf"V thoMk] djsd\fc ifrikyA

I c tx eaU; kjk jg} T; u/kk; f[kyk, ckyAA

जो सम्यक्दृष्टि बन जाता है। वह सांसारिक कार्यों में तटस्थ बन जाता है। उसमें रचता, पचता नहीं है। पहले के श्रावक आनन्द कामदेव जैसे, जो कि अपनी सही स्थिति से चले और उन्होंने शुभ पुरुषार्थ किया। जिनवाणी में रमण करते हुए, समय आने पर अपने पुत्र को घर-बार सम्भलवाकर धर्म-ध्यान में लग गए थे। तो मनुष्य का एक मिनिट तो बहुत होता है, चौदहवें गुणस्थान का स्थान मनुष्य ही ले सकता है। सर्वार्थ सिद्ध विमान में रहने वाले देवता नहीं ले सकते हैं। जहाँ पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान तो न्यूनाधिक रूप से चारों गति में पायेंगे। बल्कि चारों पायेंगे, परन्तु छठा गुणस्थान और इससे आगे के सातवें, आठवें, नवमें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान तो मनुष्य में ही पायेंगे। छठे से मुनि का जीवन है व आनन्द इसमें ही अधिक मिलता है, किन्तु जब कर्मों की भारी शैवाल आ जाती है, मोह का परदा छा जाता है, तो कितना ही उपदेश दिया जाय, समझ नहीं आ पाता है।

निज स्वरूप क्रिया साधे, चउगति साधे के प्रतीक

अभी मुनिवर आपके समक्ष चित्त और संभूति का संवाद सुना रहे थें। वहां देखिये! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सम्पत्ति में सराबोर होकर आया और कहता है कि क्या भाई! धर्म करने का फल तुम्हें नहीं मिला है? अब क्या समझाए

चित्तजी मुनि, मोह का परदा पड़ा हुआ है, मोह में छाया हुआ है, उसको क्या समझाए? भाई समझाता है कि भाई समझ। जो धर्म करनी का फल वास्तविक मिला है, वह मुझको मिला है। जो तप, संयम की साधना कर रहे थे, वह आध्यात्मिक क्रिया जो आत्म साधना के लिये होनी चाहिये, तुम्हारी वह साधना धूमिल हुई और वह साधना भौतिक पदार्थों के लिये हुई? अर्थात् नियाणा किया उस समय तुम्हारी आत्मा ने आत्म साधना करते-करते संसार की साधना कर ली। अधिकांस तथाकथित साधक भी ऐसी ही क्रिया करने वाले पाये जायेंगे। आध्यात्मिक साधना करने वाले बिरले ही पाये जायेंगे। आप संसार की दृष्टि से गिनती करेंगे तो सही करणी करने वाले, आटे में नमक के बराबर भी नहीं हैं। बंधुओ! मैं क्या समझाऊँ? यह क्षण समझने की क्षमता का है जो क्रिया अपने निज स्वरूप को साधने के लिये है, क्योंकि मनुष्य तन में ही अध्यात्म का परिपूर्ण रूप पाया जाता है। चन्द्र से अधिक शांत और सूर्य से अधिक प्रकाश मनुष्य जीवन में ही पाया जाता है, उसको पाने के लिये चौबीस घण्टों में से कुछ समय तो निकालिये और समीक्षण साधना में रत हो जाइये, और देखिये तो सही कि कैसा आनन्द मिलता है। आप हाड़-मांस के पुतले तक सीमित मत रहिये। ये सारे क्षणिक (टेम्परेरी) आनन्द है। आप इनसे ऊपर उठकर बाजी तो लगाइये। यह बाजी स्वर्ग से बढ़कर है। वह एक तरफ है और यह एक तरफ है। यह सम्पत्ति तो अनेक बार पाई है। चित्तजी यही कह रहे हैं कि मुझे साधना का फल मिला है, तभी मैं अध्यात्म रास्ते पर चला हूँ। तुमको नहीं मिला है क्योंकि तुमने निज स्वरूप को साधने में नहीं लगाया, और बाहरी भौतिक पदार्थों को प्राप्त करने में तप, संयम लगाया। तभी चक्रवर्ती तो बन गये, और सोच रहे हो कि मुझे तप, संयम का फल मिला है। यह तो कचरा है, अन्न खेत में पैदा करते हैं, तो भूसा तो अपने आप पैदा हो जाता है। चक्रवर्ती का पद भी एक दृष्टि से भूसे की उपलब्धि के समान है। यह सम्पत्ति और वैभव और चक्रवर्ती पद सब नाशवान हैं, अस्थिर हैं। यह जवानी भी चली जाने वाली है। आप जब तक जवान हैं तब तक ही इसकी निज स्वरूप को पहिचानने में क्रिया कर सकते हो, इसको इधर और उधर भी लगा सकते हो। जब मनुष्य की शक्ति ढीली पड़ जायेगी, तब क्या कर सकोगे? चित्तजी समझा रहे हैं चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त सोच रहे हैं कि संयम का फल मुझे मिला है। यह छोटे बच्चों के खिलौने की तरह ही बात

रही। वास्तविक ऋद्धि नहीं मिली। मुझे भी खिलौना मिला, कचरा मिला। परन्तु अब तो मैं कुछ कर नहीं सकता। निदान के बन्धन में बंध गया हूँ। स्व-स्वरूप की साधना मुझ में सध नहीं सकती।

सज्जनो! आप भी तो तप, संयम की आराधना करते हैं वह केवल मुक्त स्वरूप की उपासना के लिये ही होनी चाहिये। यदि किसी फल की आकांक्षा से तप, संयम की आराधना की तो कभी अभीष्ट साध्य प्राप्त नहीं कर सकोगे।

संपेहए अप्पगमप्पएणं

आत्मा से आत्मा का सम्प्रेषण-समीक्षण करो।

अनादिकाल से कर्माच्छादित यह आत्मा अपने द्वारा ही निर्मित विभाग रूपों के निमित्तों में स्वभाव-सी बनकर बिलख रही है। इन विभाव के निमित्तों ने आत्म को अत्यधिक प्रभावित कर रखा है। दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा स्वयं के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर पर पदार्थों से स्वयं ही प्रभावित हो रही है, और पर पदार्थों को आसक्तिभावपूर्वक अधिक से अधिक ग्रहण करने में प्रसन्नता का अनुभव कर रही है। अज्ञ बालक भी तो ऐसा ही करता है। रंग-बिरंगे खिलौनों को संगृहीत कर आनन्द का अनुभव करता है। उसको यह ज्ञान नहीं होता कि सुज्ञ पुरुष मुझे क्या कहेंगे। वैसे ही संसारी चैतन्य देव इन पर-पदार्थों को आत्मीय भाव से ग्रहण करता हुआ, उनमें रमण करता है। पर यह चिन्तन नहीं करता कि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवंत मुझे किस रूप से अवलोकित कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो उनके समकक्ष है। पर उसको मैं स्वयं ही देख नहीं पा रहा हूँ। इसीलिए शास्त्रकारों ने भव्यजनों को सम्बोधित करते हुए अमूल्य उपदेश के रूप में कहा है कि-

I ā g, vli xeli , .ka

हे चैतन्य देव! अपने-आप से ही अपने आपको संपेहए अर्थात् सम्यक् प्रकार से देख। यानी स्वयं का स्वयं से समीक्षण कर। जिससे तुझे स्वयं की विभाव परिणति एवं स्वभाव परिणति का विज्ञान होगा और स्वयं विभाव के पर-निमित्तों में रमण की वृत्ति से आश्चर्य होगा। मैं दुनिया की दृष्टि में इतना बड़ा कहलाने वाला अज्ञ बालक की तरह स्वयं की शक्ति का

कैसा दुरुपयोग कर रहा हूँ। यह कैसी विचित्र अनादिकाल की विडम्बना है कि स्वयं के भावों को ही पर-पदार्थों में आरोपित कर उन पर-पदार्थों को आसक्ति पूर्वक स्वकीय समझने का प्रयत्न करता आ रहा हूँ। ऐसा विज्ञान तथा वैभाविक वृत्तियों से विलणीकरण तभी बन पाएगा जबकि वह स्वयं से स्वयं का समीक्षण करना सीख जाएगा।



